अपभ्रंशकाव्य में सौन्दर्य वर्णन

लेखक

डॉ. शशिनाथ झा

कुलपति

कामेश्वरसिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय,

दरभङ्गा

प्रथम संस्करण :

प्रकाशन वर्ष : 2021

मूल्य :

प्रकाशक :

पुस्तक प्राप्ति स्थान :

मुद्रक :

सम्मति

आदरणीय झा जी, नमस्कार ।

आपका आलेख 'अपभ्रंशकाव्य में सौन्दर्यवर्णन' मिला । मैं उसे पूरा पढ़ गया । अतिप्रसन्नता हुई । आप-जैसे विद्वान् से जो अपेक्षा थी उससे अधिक ही आपका आलेख प्रीतिकर हुआ । हार्दिक साधुवाद ।

आपके आलेख की एक बड़ी विशेषता है कि उसमें आपने रूपरेखा का पूर्णतः अनुगमन किया है, प्रत्येक बिन्दु पर प्रचुर सामग्री दी है, जिससे सामान्य पाठक भी उसे भली भाँति हृदयंगम कर सकता है ।

दिनांक- 15.09.1996

भवदीय

डॉ० रामेश्वर दयालु अग्रवाल

पूर्वअध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
मेरठ कालेज, मेरठ

परिमल
138/3, विजयनगर,
मेरठ-250001

विषय-सूची

प्राक्कथन

रमणीय शब्द द्वारा रमणीय अर्थ प्रस्तुत करना की कवि का कृत्य होता है जिसे काव्य कहते हैं । इसी रमणीयता को सौन्दर्य कहा जाता है । इसी सौन्दर्य को जुटाने की कला के सिखाने वाले शास्त्र को सौन्दर्यशास्त्र कहते हैं । तात्पर्य यह कि काव्यशास्त्रियों के सभी श्रम सौन्दर्य प्रकाशनके लिए ही होता है । परन्तु प्रस्तुत सन्दर्भ में इससे लौकिक सौन्दर्य ही अभिप्रेत है । काव्य में शारीरिक एवं आन्तरिक सौन्दर्य का स्वाभाविक आकर्षक वर्णन प्रचुरतया देखा जाता है । इस पर आलोचकों की निगाहें बनी रहती हैं ।

आज से 25 वर्ष पूर्व मेरठ के प्रोफेसर माननीय श्री रामेश्वर दयालु अग्रवाल जी ने 'विश्वसाहित्य में सौन्दर्यवर्णन' नामक शोध योजना को पूर्ण करने के क्रम में 'अपभ्रंश काव्य में सौन्दर्यवर्णन' पर लिखने हेतु मुझसे आग्रह करते हुए इसकी एक रूपरेखा भेज दी, क्योंकि वे नागप्रकाशन से प्रकाशित विद्यापतिकृत कीर्तिपताका (अवहट्ठकाव्य) की मेरी व्याख्या से प्रभावित हो चुके थे । मैंने परिश्रमपूर्वक आलेख भेज दिया । उनके द्वारा मुझे साधुवाद दिया गया । फिर उसके बाद इस विषय में कोई जानकारी नहीं मिल सकी ।

इधर स्वरचित पुराने निबन्धों की संचिका में इस पर दृष्टि पड़ी तो इसे प्रकाशित करने की उत्कण्ठा जाग गयी और भगत्कृपा से आज पाठकों के हाथों में समर्पित कर रहा हूँ । इसके प्रेरक प्रो० अग्रवाल जी का हृदय से आभार प्रकट करता हूँ ।

डॉ० शशिनाथ झा
कुलपति
का०सिं०द० संस्कृत विश्वविद्यालय
दरभंगा- 846008

14.4.2021

ग्राम- दीप
जिला- मधुबनी
मो.- 9199475909

उद्धृत अंशों के कवि

कवि	काल	ग्रन्थ	पृ०
1. कालिदास-	ई०पू० 100-	विक्रमोर्वशीयनाटकम्-	8,36,46
2. स्वयम्भू-	8वीं ई० शती-	पउमचरिउ-	9,29,47
3. शबरपाद-	900 ई०-	बौद्धगान ओ दोहा-	16
4. सरहपाद-	900 ई०-	बौद्धगान ओ दोहा-	38
5. भुसुकपाद-	900 ई०-	बौद्धगान ओ दोहा-	37
6. पुष्पदन्त-	950 ई०-	महापुराण-	14,48
7. धनपाल-	1000 ई०-	भविस्सयत्तकहा	16,31,50
8. हेमचन्द्र-	1100 ई०-	सिद्धहेमशब्दानुशासन-	17,32,39
9. अद्दहमाण-	1150 ई०-	संदेस-रासक-	18
10. चन्दवरदायी-	1200 ई०-	पृथ्वीराज रासो-	19,32
11. जिनपद्मसूरि-	1200 ई०-	सिरिथूलिभद्द फागु-	23,52
12. विद्याधर-	1250 ई०-	प्राकृतपैंगल में-	33
13. हरिब्रह्म-	1300 ई०-	प्राकृतपैंगल में-	33
14. देवसेन-	1300 ई०-	सावयधम्मदोहा-	38
15. ज्योतिरीश्वर-	1320 ई०-	वर्णरत्नाकर-	24,25
16. बब्बर-	1320 ई०-	प्राकृतपैंगल में-	26,39,51
17. विद्यापति-	1400 ई०-	कीर्तिलता, कीर्तिपताका-	27,34,40,53
18. भीषम-	1530 ई०	एक खण्डित अवहट्ट काव्य-	45

अपभ्रंशकाव्य में सौन्दर्य वर्णन

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का उद्गम स्रोत साक्षात् रूप से अपभ्रंश-भाषा ही है, जिसका साहित्य पञ्चमी शताब्दी ईस्वी से लेकर पन्द्रहवीं शताब्दी तक का उपलब्ध होता है । यह भाषा संस्कृत-पालि-प्राकृत से अद्‌भूत होकर अपने समय मे व्यापक रूप से पुष्पित पल्लवित हुई । इसका क्षेत्र पश्चिम समुद्रतट (महाराष्ट्र, गुजरात, राजस्थान, मुल्तान) से लेकर पूर्वीसमुद्रतट (बंगाल) तक विस्तृत था । इस भाषा के काव्यों में सौन्दर्य-चित्रण के कुछ निदर्शन यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं ।

सौन्दर्य जो किसी भी भाषा के काव्य के लिए अनिवार्य तत्त्व है, अपभ्रंश के काव्यों में सहज और मनमोहक रूप में देखा जाता है । यहाँ तक कि दार्शनिक कवि भी सूक्ष्म-परम-तत्त्व के निरूपण में रूपक बान्ध कर सौन्दर्य को चित्रित करते दीख पड़ते हैं और यही है सौन्दर्य के प्रति कवियों का स्वाभाविक तादात्म्य (एकरूपता) का परिचायक । यद्यपि सौन्दर्य का अर्थ इतना व्यापक है, जितना काव्य, और तब काव्यशास्त्रीय सभी तत्त्व, सभी वर्णन इसके अन्तर्गत आ जाते हैं, पर यहाँ ऐसा व्यापक अर्थ अभिप्रेत नहीं है । यहाँ तो शारीरिक, शीलगत एवं क्रियागत सौन्दर्य से ही तात्पर्य है ।

(1) नर-नारी के बाह्य (शारीरिक) सौन्दर्य चित्रण

महाकवि **कालिदास** कृत **विक्रमोर्वशीय** के चतुर्थ अंक में अपभ्रंश गीतिकाएँ प्रयुक्त हुईं हैं। यही अपभ्रंश का सर्वप्राचीन उपलब्ध स्वरूप है, जिसे क्षेपक मानने पर भी पञ्चमीशती से बाद का नहीं माना जा सकता है। इसमें पुरूरवा (नायक) का उर्वशी के विरह में प्रकाशित भाव प्रश्न के रूप में निबद्ध हैं। इसमें **नारी-सौन्दर्य** का एक उदाहरण देखा जा सकता है-

सुरसुन्दरि, जहण-भरालस, पीणुतुंग घणत्थणि,
थिरजोब्बण, तणुसरीरि हंसगई, गअणुज्जल काणणि।
मिअ-लोअणि भमन्ती, दिट्ठो पइँ।
तह विरह समुद्दंतरे, उत्तारहिं मइँ ।। 27 ।। (चर्चरी गीति)।

दिव्य सुंदरी, जाँघों के भार से अलसायी हुई, पुष्ट ऊँचे सघन स्तनवाली, स्थिरयौवना, कोमलांगी, हंस के समान गति (चाल) वाली, अपने गमन से कानन (वन) को उज्ज्वल करनेवाली, मृगलोचनी (मेरी प्रिया उर्वशी) को आपने (पइँ) कहीं देखा है ? तो मुझे विरह-समुद्र के भीतर से पार कर दें (अर्थात् उसे दिखा दें)।

इसे नारी सौन्दर्य के पारम्परिक उत्कृष्ट चित्रण कह सकते हैं। अब **पुरुष-रूप सौंदर्य** को भी देखा जाय-

सो राहवँ पहरण-हत्थाए, धाबइ-णिद्दलण समत्त्थाए।
दीहर मेहल गुप्पन्ताए, चन्दण कद्दम खुप्पन्ताए।
विच्छोइय मणहर कन्ताए, किय माया-सुग्गीवन्ताए।
रण रहसुद्भूसिअ गत्ताए, अप्फालिअ-वज्जावत्ताए।

आबीलिय-तोणा-जुयलाए, किङ्किणि-ललन्त-चल-मुहलाए ।
कङ्कण-णिबद्ध-कर-कमलाए, वित्थिण्णुण्णय-वच्छयलाए ।
कुण्डल-मण्डिय-गण्डयलाए, चूड़ामणि-चुम्बिय-भालाए ।
भासुल-फुलिआहल-वयणाए, रत्तुप्पल-सण्णिह-णयणाए ।
–पउम-चरिउ, सं. 70

यह उपर्युक्त वर्णन युद्धोद्यत श्रीरामचन्द्र का है जिसे **महाकवि स्वयम्भू** (8वीं शती) ने **'पउमचरिउ'** नामक अपने विशाल जैन-रामायण के 'जुज्झकांड' में निबद्ध किया है । रूप सौंदर्य के साथ ही शूरता भी प्रकाशित हो रही है-

वे राघव अस्त्र (प्रहरण) हाथ में लिए दैत्यों के निर्दलन (मारने) में समर्थ हैं, दीर्घ-मेखला (बड़े कमरकस) पहने हुए हैं, चन्दन के पंक लगाये हुए हैं, मनोहरा कान्ताओं (ललनाओं) के मन को विक्षोभित (काम से उद्विग्न) करा रहे हैं, अपनी माया से सुग्रीव आदि वीरों को प्रकटित कर रहे हैं । वे रण के उत्साह से भूषित शरीर वाले, वज्र के समान भुजाओं को फैलाए हुए दोनों होठों को दबाये हुए, किंकिणी से शोभित एवं मुखर चरणवाले, कमल के समान हाथ में कंगन पहने हुए, विशाल उन्नत छाती वाले, कुंडल से भूषित, कपार पर चूड़ामणि से शोभित, चमकदार, प्रफुल्लित वदन वाले और लाल कमल के समान आँख वाले हैं । इसी प्रकार राम के दोनों पुत्र **लव और कुश के रूप वर्णन** में कवि स्वयंभू कहते हैं-

"सीयाए विहँ णयण सुहङ्कर, पुव्व दिसिहँ णं चन्द-दिवायर" ।
–पउम चरिउ, सन्धि-81 ।

"सयलायल-कुल-णहयल मियङ्क ।
णं अरिकरि केसरि मुक्क-सङ्क" ।।
"माणुस-वेसँ अवयरेवि, बे भाय णाहूँ किअ कामहोँ ।
किह परिणाव मिजमल-मइ, उप्पण्ण चिन्त मणेँ मामहोँ ।।
-पउम चरिउ, सन्धि-82 ।

लव और कुश अपनी माता सीता के समान ही नयन-सुखकर थे (माता के समान मुँह वाला पुत्र बड़ा भाग्यवान होता है) जैसे-पूरब में ही चन्द्र और सूर्य उगे हों ।

अपने संपूर्ण निर्मल कुल रूपी आकाश (नभ तल) के चन्द्र (मृगाङ्क) थे, इस प्रकार लगता है कि शत्रुरूपी हाथियों पर निःशङ्क होकर सिंह आक्रमण कर रहा हो (नील आकाश को हाथी और लवकुश को सिंह के रूप में चित्रित किया गया है) ।

कवि उनके रूप सौंदर्य को अलौकिक दिव्य मानते हुए कहते हैं कि ये दोनों भाई मनुष्य वेश में अवतार लिए कामदेव ही हैं । इन दोनों के सौंदर्य का वर्णन में कैसे कर सकूँगा, इसकी चिन्ता मेरे मन में उत्पन्न हो गयी है ।

महाकवि स्वयंभू ने **नारी के रूप** को इस प्रकार अंकित किया है-

(1) थिर कलहंस-गमण गइ-मंथर, किस मज्झारें णिअंबे सुवित्त्थर ।
रोमावलि मयरुहू रुतिण्णी, णं पिंपिलि-रिंछोलि विलिण्णी ।।
अहिणव हुडूपिंड पीणत्त्थण, णंम युगल उर खंभणि सुम्भण ।।
रेहइ वयण-कमलु अकलंकउ, णं माणस-सर विअसिउ पंकउ ।।

सुललिय लोयण ललिय पसण्णहँ, णं वरइत्त मिलियवर कण्णहँ ।।
धोलइ पुट्ठिहि वेणि महाइणि, चंदण लयहिं ललइ णं नायणि ।।
–पउम चरिउ ।

सीता राजहंस की गति के समान मन्द–मन्द चलतीं हैं, उनका मध्यभाग (कटि) कृश (पतली), नितम्ब सुविस्तृत, कामदेव के निवास स्वरूप नाभि तक जाती हुई रोमावली बिल में जाती हुई चींटियों की पंक्ति की समान शोभित, पुष्ट स्तन नवीन हुडू नामक बाजे के पिण्ड के समान, युगल जाँघ केले के थम्भ के समान और अकलंकित वदन–कमल शोभित है, जो लगता है कि कामदेव के सरोवर में कमल विकसित हुआ है । उनके सुललित लोचन चञ्चल एवं प्रसन्न हैं, जो लगते हैं कि बढ़ते हुए सुंदर कानों से मिल रहे हों, पीठ पर लम्बी वेणी डोल रही है, जो लगती है कि चंदन–लता में नागिन लटक रही हो' ।

(2) "दिट्ठ देवि रत्तुप्पल–चलणी ।
णह–किरणुज्जोइय–सइ–भुवणी ।।
काय–कन्ति–उणहविय–सुरिन्दी ।
लोयाणन्द–रुन्द–मुह–यन्दी" ।।
–पउम चरिउ, सन्धि–81–14 ।

रक्त कमल के समान चरणवाली देवी जानकी को देखा, जो अपने नखों के किरणों से सैकड़ों भुवनों को उद्द्योतित (प्रकाशित) कर रहीं थीं, देह की कान्ति से सुरेन्द्री (इन्द्राणी या दिव्यांगना) को मुँह नीचा (उन्नमित) करा रही थीं और अपने मुखचन्द्र से लोकों के आनन्द को विस्तीर्ण (रुन्दी) कर रहीं थीं ।

(3) किं चलण तलग्गइँ कोमलाइँ, णं णं अहिणव रत्तुप्पलाइँ ।।
किं ऊरु परोप्परु भिण्ण तेय, णं णं णव-रम्भा-खम्भ एय ।।
किं कणय-दोरु घोलइ विसालु, णं णं अहि रयण-णिहाण पालु ।।
किं तिबलिउ जढ़रे पधाविआउ, णं णं कामउरिहे खाइयाउ ।।
किं रोमावलि घण कसण एह, णं णं मयणानल-धूमलेह ।।
किं णव-थण णं कम्पाय कलस, किं कर णं णं प्पारोह-सरिस ।।
किं आयम्विर करयल चलन्ति, णं णं असोय-पल्लव ललन्ति ।
किं आणणु, णं णं चन्दविम्बु, किं अहरउ, णं णं पक्क-बिम्बु ।।
किं दसणावलिउ स-मुत्तिआउ, णं णं मल्लिय-कलियउ इमाउ ।।
किं गण्डवास, णं दन्ति-दाण, किं लोयण, णं णं कामबाण ।।
किं भउह इमाउ परिट्ठयाउ, णं णं वम्मह-धणु-लट्ठियाउ ।।
किं कण्ण कुण्डलाहरण एय, णं णं रविससि विप्फुरिय तेय ।।
किं भालउ, णं णं ससहरद्धु, किं सिरु, णं णं अलि-उल-णिबद्धु ।।
-पउम चरिउ, सन्धि-69-21 ।

उपर्युक्त वर्णन 'विशल्या' नामक दिव्य-नारी का है, जिसका विवाह लक्ष्मण से हुआ । शक्ति बाण लगने से मूर्च्छित लक्ष्मण को विशल्या से पाणिग्रहण-निर्णय के बाद ही चेतना आयी और तत्क्षण विवाह हो गया । वह नारी अपूर्व सुंदरी थी जिसके सौंदर्य-वर्णन में कवि स्वयंभू स्वयं प्रश्न कर उत्तर भी देते चलते हैं- ये कोमल चरण-तल क्या हैं, मानिये नवीन लाल-कमल ही हैं । ये परस्पर भिन्न चमकीले जाँघ क्या हैं, मानिये नवीन कदली-स्तम्भ- युगल ही हैं । ये विशाल कनक-दोला-स्वरूप नितम्ब क्या झूल रहे हैं, मानिये नागों के रत्नों के निधान

(खजाना) ही पड़े हुए हैं। ये त्रिवली जठर (पेट) पर क्या दौड़ रहीं हैं, मानिये कामदेव के पुर में भोजन कर रहीं हैं। सघन काली यह रोमावली क्या है, मानिये कामाग्नि की धूम-रेखा है। ये नवीन स्तन क्या हैं, मानिये स्वर्णकलस ही हैं। ये हाथ क्या हैं, कोपल के समान ही हैं। ये लटकते करतल क्या चल रहे हैं, अशोक-पल्लव ही शोभित हो रहे हैं। यह मुँह क्या है, चन्द्रविम्ब ही है। यह अधर (होंठ) क्या है, पका हुआ विम्बफल ही है। यह मोती के समान दाँतों की पंक्ति क्या है, मल्लिका फूल की कलियाँ ही हैं। यह गण्डस्थल की सुगन्धि क्या है, हाथी का मदजल ही है। ये आँखें क्या हैं, कामबाण ही हैं। ये लम्बे भौंह क्या हैं, कामदेव के धनुष-दंड हैं। ये कानों में कुण्डलाभरण क्या हैं, छिटकते तेजवाले सूर्य और चन्द्रमा हैं। यह कपार क्या है, अर्धचन्द्र (शशधर का आधा) ही है और यह शिर क्या है, मानिये भौंरे के झुंड ही निबद्ध हैं।

(4) वइदेहि दिट्‌ठ हरि-हलहरेहिँ, णं चन्दलेह विहिँ जल हरेहिँ ।।
णं सरय-लच्छि पंकय-सरेहिँ, णं पुण्णिम विहिँ पक्खन्तरेहिँ ।।
णं सुरसरि हिमगिरि-सायरेहिँ, णं णह-सिरिचन्द दिवायरेहिँ ।।
परिपुण्ण-मणोरह जाणईहँ, तरइ व लायण्ण-महाणईहँ ।।
णिय-णयण-सरासणि सन्धइव्व, पिउ पगुण-गुणेहि णिबन्धइव्व ।।
जस-कद्दमेण जगु लिम्पइव्व, हरिसंसु-पवाहेँ सिच्चईव्व ।।
-पउम चरिउ, सन्धि-78-7

राज्याभिषेक के समय वैदेही राम और लक्ष्मण के साथ देखी गयी, जैसे दो जलधरों के बीच चन्द्रलेखा हो, कमलमय सरोवर में शरद लक्ष्मी हो, दोनों पक्षों (शुक्ल और कृष्ण) के

बीच में पूर्णिमा हो, हिमालय और सागर के बीच में गङ्गा नदी हो तथा चन्द्र और दिवाकर के बीच आकाश की शोभा हो । जानकी का मनोरथ आज परिपूर्ण हो गया है, जैसे सौन्दर्य की महानदी में तैर रही हों, अपने आँख रूपी बाणों का संधान कर रही हों, प्रिय को अपने उत्कृष्ट गुणरूपी डोरी से बान्ध रही हों, अपने यशरूपी पंक से संसार को लीप रही हों और हर्षाश्रु-प्रवाह से सींच रही हों ।

महाकवि स्वयंभू के बाद अपने विशाल काव्य कृति के साथ **महाकवि पुष्पदन्त** (950 ई.) का आविर्भाव हुआ था । इनके महापुराण (तिरसट्ठि-महापुरिस-गुणालंकार) में वर्णित रूपसौंदर्य की झाँकी प्रस्तुत की जा रही है-

(1) मत्त-करिन्द-मन्द-लीलागइ, णरमण-णलिण-गोमिणी ।
किं वण्णिमि णरिंद ! साकामिणि, कामिणि-यण-सिरोमणी ।
दिस बिम्बाहर-रागेँ रावइ, कररुह-पंति पईबहिं दीबइ ।
कुंचित-केसहँ कन्तिइ कालइ, माणिणि माणव महुयर-मालइ ।
सुललिय-वाणिव सुकलहिं केरी, जहिं दीसइ तहिं सा भल्लारी ।।

-महापुराण-54-2 ।

यहाँ गुणमञ्जरी नाम की वेश्या के सौन्दर्य चित्रित हुए हैं- वह मत्ता हाथी के समान मन्द-मन्द मतवाली चालवाली है और लोगों के मन रूपी कमल की प्रकाशिका है । हे नरेन्द्र ! उस कामिनी का वर्णन क्या करूँ, वह तो कामिनियों में सिरमौर है । बिम्बफल के समान अधरोष्ठ की लाली से दिशाओं को अनुरञ्जित कर रही है, उसके हाथ की अंगुलियों की पंक्ति प्रदीप के रूप में दीपित हो रही है, घुंघराले काले बाल की कान्ति मधुकर-माला

के समान मानी जाती है, सुललित वाणी के समान शुक्ल मूर्ति उस बाला को जहीं देखा जाय वहीं भली ही लगती है ।

(2) णव-जोव्वणि-चडंति सा छज्जइ ।

रत्तुप्पलु-पय सोहइ जित्तउ, तेणवि अप्पउ सलिले णिहित्तउ ।।
भू-वंकत्तणु थण-थड्ढ़त्तणु, अहरहु केरउ अइ-राइत्तणु ।।
पडिजायहँ दंतहँ धवलत्तणु, जण-मारण णयणाहुँ चलत्तणु ।।
तुच्छोयर-वासिहि गंभीरिम, णाहिहि अबरु णियंबहु बड्डिम ।।
कांचीदामएण दढ़बंधहु, रहियंगहु परलोय-विरुद्धहु ।।

-महापुराण-517 ।

'सुन्दरी' नाम की नायिका के युवावस्था में पदार्पण करने का सौंदर्य उपर्युक्त पंक्तियों में चित्रित है-

नव यौवन के चढ़ते ही वह ऐसे शोभित होती है कि कलंकी चन्द्रमा इसके मुँह से लजाने लगते हैं । उसके पैर की शोभा से जीते जाने पर रक्त-कमल अपने ही जल में चला गया । उसके भौंह का टेढ़ापन, स्तनों की ऊँचाई, अधर की अतिशय लाली, दाँतों की धवलता (चमकीलापन) और नयनों में चंचलता कामिजनों को मारने (व्याकुल करने) में सक्षम है । तुच्छ (पतले) पेट में वास करते हुए नाभि की गंभीरता, नितम्ब का विस्तार और काञ्ची (कमर का भूषण) की डोरी से दृढ़बंध परलोक के विरुद्ध बंधन में सक्षम है ।

अपभ्रंश-साहित्य में **बौद्ध-सिद्धों** (10वीं शती) का महत्त्वपूर्ण योगदान है । यद्यपि इनके काव्य का गूढ़ अर्थ दार्शनिक रहता है, पर बाह्य रूप से सौंदर्य वर्णन भी देखे जाते हैं ।

'शबर पाद' के गीत का एक अंश प्रस्तुत किया जाता है–

ऊँचा–ऊँचा पावत, तहिँ बइस सबरी बाली ।
मोरङ्गि–पिच्छ पहिरण, गिवत गुञ्जरी माली ।
निअ घरिणी नामे सबरी सहज सुन्दारी ।
एकेलि सबरी ए बण हिण्डइ, कण्ण कुण्डल वज्रधारी ।।
–बौद्धगान–28 ।

ऊँचे–ऊँचे पर्वत पर बाला (सोलह वर्ष की) शबरी बैठी है, मोर पंख की छापवाली साड़ी पहनी हुई है, गले में गुञ्जा की माला धारण की हुई है, एक गृहिणी के रूप में शबरी स्वाभाविक सौंदर्यमयी है, कानों में हीरा से युक्त कुंडल धारण कर शबरी अकेली इस वन में घूम रही है (और सबों को आकृष्ट कर रही है ।)

दसवीं शती के ही **कवि धनपाल** ने अपने **'भविस्सयत्त-कहा'** (भविष्यदत्त कथा) में नारी–सौंदर्य का चित्रण इस प्रकार किया है–

नं वम्मह–भल्लि विंधण–सील जुआण जणि ।
ताहि पेक्खिवि कंति, विंभिउ भक्ति कुमारमणि ।।
रोमावलि वलि अंगि विहावइ, थिय पिपीलि–रिंछोलि व नावइ ।।
रसना–दाम निबन्धणु सोहइ, किंकिणि रणझणंतु मन मोहइ ।।
–भविस्सयत्तकहा ।

ये रमणियाँ युवकों को बींधनेवाले कामदेव के भाले के समान हैं, जिनकी कान्ति को देखकर श्रेष्ठ राजकुमार भी झट से विस्मय में पड़ जाते हैं । इनकी रोमावली त्रिवलियों के साथ

शोभित हैं जो चींटी की पंक्ति के समान नमित हो रही हैं । कमर के भूषण की डोरी बंधी हुई शोभित हैं, जिनमें लगी किंकिणियों के रुनझुन मन को मोह रहे हैं ।

आचार्य **हेमचन्द्र** ने (1082-1172 ई.) अपने 'सिद्धहेमशब्दानुशासन' के आठवें अध्याय को प्राकृत-व्याकरण के रूप में रखा है, जिसके अंत में अप्रभंश व्याकरण है । यहाँ अपभ्रंश के उदाहरण में सैकड़ों अनूठे पद्यों को प्रस्तुत किया गया है । इनके मानव-सौंदर्य चित्रण के नमूने प्रस्तुत किये जा रहे हैं-

(1) अङ्गहि अङ्ग न मिलिउ हलि, अहरेँ अहर न पत्तु ।
पिअ जोअन्तिहे मुह-कमलु, एम्बइ सुरउ समत्तु ।।
-सिद्धहेमशब्दानुशासन-8-332 ।

नायक का मुख इतना सुन्दर था कि नायिका प्रियके मुख-कमल को देखती ही रह गई और इस प्रकार सुरत का समय ही समाप्त हो गया । न तो उनके अङ्ग से अङ्ग ही मिल सके और न ही अधर से अधर ही जुड़ सका ।

(2) मुह कबरिबन्ध तहेँ सोह धरहि ।
णं मल्ल-जुज्झु ससि-राहु करहि ।।
तहेँ सहहिं कुरल भमर-उल तुलिअ ।
णं तिमिर-डिम्भ खेल्लंति मिलिअ ।।
-सिद्धहेम-0-8-382 ।

बंधे हुए केशपाश से मुख, शोभा को धारण करता था, जैसे-चन्द्र एवं राहु मल्ल युद्ध कर रहे हों । बिखड़े हुए लट भौंरे के झुंड के समान थे, जो लगते थे कि अंधकार के बच्चे मिलकर खेल रहे हों ।

(3) सिरि जर-खंडी लोअरी, गलि मणयडा, न बीस ।
तोबि गोट्ठडा कराबिआ, मुद्धए उट्ठ-बईस ।।

-सिद्धहेम-8-420 ।

इस साधारण बाला का सहज-सौंदर्य जादूभरा है । देखा जाय-इसके सिर पर जराजीर्ण (पुरानी) कम्बल की गड्डी (लोमपुटी) है और गले में मणि के आकार का (नकली) हार, जिसमें बीस दाने भी न होंगे, तथापि इस मुग्धा-नायिका ने गोष्ठी में स्थित तरुणों को ऊठक-बैठक करा दी ।

अद्दहमाण (अर्द्धमान) का **सन्देश-रासक** (1150 ई.) एक अप्रभंश-दूतकाव्य है । इसका सौन्दर्य-वर्णन भी अनूठा है-

(1) "विजय-नगरहु काबि वररमणि,
उत्तुंग-थिर-थोर-थणि,
विरुड-लक्क धयरट्ठ-उपहर" ।।

-सन्देस-रासक-1-24 ।

विजयनगर की कोई उत्कृष्ट रमणी (अपने परदेशी पति की बाट देख रही है) जिसका स्तन ऊँचा, दृढ़ और स्थूल है, कटिप्रदेश बर्रे (वरटा या विढ़नी) के समान पतला है और पदविन्यास (गति) राजहंस (धार्तराष्ट्र) के तुल्य है ।

(2) छायंती कह-कह व सलज्जि णिय-करहि ।
कणय-कलस झंपंती णं इन्दीवरहि ।।

-सन्देस-रासक-1-28 ।

किसी-किसी तरह सलज्जा सुन्दरी ने अपने हाथों से ही स्तनों को ढँक (छादित कर) लिया, लगता है कि सोने के घड़ों

को कमल के फूल से ढँक रही हो ।

चन्दवर दायी का **'पृथ्वीराज रासो'** (बारहवीं शती) उत्तर कालिक अपभ्रंश काव्यों में सर्वप्रधान है । इस काव्य से **नर-नारी सौंदर्य** के कुछ प्रसंग उद्धृत किये जा रहे हैं-

(1) मनिगन कंठला कंठ, मद्धि केहरि नख सोहत ।
घुघरवरे तसु चिहुर, रुचिर बानी मन मोहत ।।
केसर सुमंडि सुभ भाल छवि, दसन जोति हीरा हरत ।
नह तलप इक्क यह षिन रहत, हुलसि-हुलसि उठि-उठि गिरत ।।
रज-रंजित-अंजित-नयन, घूंठन डोलत भूमि ।
लेत बलैया मात लखि, भरि कपोल मुख चूमि ।।
-पृथ्वीराज रासो, आदिपर्व-48, 49 ।

यहाँ पृथ्वीराज के बाल रूप का चित्रण हुआ है । उनके कंठ में मणियों का कंठहार है, जिसके मध्य में बघनखा शोभित हो रहा है । उनके बाल घुंघराले हैं । उनकी वाणी मन को मोह लेती है । कपार पर केसर भूषित है, दाँत ऐसे चमकीले हैं कि हीरा की ज्योति को भी हर लेते हैं । वे बिछावन पर एक जगह क्षण भर भी स्थिर नहीं रहते हैं, उल्लसित होकर उठ-उठ के गिरते हैं (यह बाल सुलभ चेष्टा है) । धूल लगे देह-अंजन लगी आँखें शोभित हैं । वे घुटने के बल से भूमि पर इधर-उधर चल रहे हैं, जिसे देखकर माता गाल और मुख को चूमकर आनंद लेती है ।

(2) वय किसोर प्रथिराज, रम्य हा, रम्य-प्रकारं ।
सेत-पक्ख विय चन्द-कला उद्दित, तान मारं ।।
-शशिव्रताविवाह-14 ।

पृथ्वीराज जब किशोर अवस्था में पहुँचे तो हाय ! अत्यन्त रमणीय लगते थे, जैसे शुक्ल पक्ष में चन्द्रकला उदित हो । उनका देह कामदेव के समान सुंदर लगता था ।

(3) कुंजर उप्पर सिंघ, सिंघ उप्पर दो पव्वय ।
पव्वय उप्पर भृंग, भृंग उप्पर ससि सुम्भय ।
ससि उप्पर इक कीर, की उप्पर मृग दिट्ठौ ।
मृग उप्पर कोदंड, संघ कंद्रप्प वयट्ठौ ।
अहि-मयूर महि उप्परह, हीर सरल हेमन जर्‍यो ।
सुर भुवन छंडि कवि चंद कहि, तिहि धोषै राजन पर्‍यो ।।
-पृथ्वीराज रासो, कनवज्ज समय-1

यहाँ पृथ्वीराज की प्रेयसी संयोगिता का सौंदर्य कलात्मक ढंग से प्रस्तुत किया गया है । उन्हें यह अपनी प्रेयसी का प्रथम दर्शन ही था । इस समय वे शिकार खेल रहे थे । इसलिए सामने में संयोगिता के अङ्गों को देख-देख प्रत्येक अङ्ग एक-एक शिकार रूप में ही उन्हें दीख पड़े और वे संदेह में पड़ गये-

हाथी के ऊपर सिंह और सिंह के ऊपर दो पर्वत हैं, अर्थात् हाथी की गति के समान मतवाली चाल से युक्त जाँघों पर सिंह की कमर के समान पतली कमर और उसके ऊपर ऊँचे-ऊँचे दो पहाड़=स्तन हैं । स्तन रूपी पर्वत के ऊपर भृंगरूपी काले स्तनाग्र, उनके ऊपर शोभित सुखचन्द्र, उस पर कीर (तोते) के चञ्चु के समान नासिका, उसके पास हरिण की आँखों के तुल्य आँखें, उनके ऊपर भौंहरूपी कोदंड (धनुष) के साथ कामदेव बैठे हैं और उस पर केश-वेणी रूपी सर्प लटक रहा है जो (वेणी) मयूर पंख के समान फीते (रीवन) हीरे और स्वर्ण से

जटित है । कवि चन्दवरदायी कहते हैं कि इन सबों का ऐसा एकत्रित समुदाय पृथ्वी पर नहीं मिलते हैं, ये देवलोक से ही पृथ्वी पर आये होंगे–इस धोखे में पृथ्वीराज पड़ गये ।

उपर्युक्त वर्णन में वर्णनीय (उपमेय) वस्तु को न कहकर केवल उपमानों का ही कथन है, इसलिए अतिशयोक्ति अलंकार से यह प्रसंग अत्यंत चमत्कृत हो उठा है । वाणी की वक्रता की पराकाष्ठा इसे ही कहते हैं । प्रत्येक अङ्गों का सौंदर्यातिशय ध्वनित हो रहा है । परन्तु इसमें कवि की कोई नवीन कल्पना नहीं है, सौन्दर्यवर्णन के परंपरा का यह संग्रह ही है ।

(4) नयन चरन कर मुख उरज, विकसित कमल अकार ।
कनक–वेलि जनु कामिनी, लचकनि वारन भार ।।
–पृथ्वीराज रासो, कनवज्ज–268 ।

यह वर्णन भी संयोगिता के लावण्य का ही है । यहाँ उसके पाँच अङ्गों नयन, चरण, हाथ, मुँह और स्तन को खिले हुए कमल से उपमा दे दी गयी है । कवि–संप्रदाय से परिचित सहृदय इन अङ्गों के सदृश कमल की भिन्न–भिन्न अवस्थाओं के स्मरण से सादृश्य द्वारा आह्लादित हो जाते हैं । कवि ने इस कामिनी को स्वर्णलता से उत्प्रेक्षित (संभावित) किया है । शरीर के भार से हाथी के समान मतवाली लचकती चलती है । उसकी यह गति युवजनों के आर्षण का केन्द्र हो जाती है ।

(5) चली अली घनं वनं, सुभंत सत्त्थ संघनं ।
विहंग भंगयो पुरं, चलंत सोभ नोपुरं ।।
अलीन जुथ्थ आवरं, मनो विहंग सावरं ।
चवंत पत्त रत्त जा, उवंत जानि अंबजा ।।

कालिंद सीम केसयं, अनंग अंग लोभयं ।
उठंत कुंभ कुच्चयं, उपंम कव्वि सुच्चयं ।।
मनोरजंत बालकी, धरी सु आनि लाल की ।
सुभंत रोम-राजयं, प्रणील-पंति छाजयं ।।
मनोज-कूप नाभिकं, चलंत सोभ आलिकं ।
सुरंग सोभ पिंडरी, षरादि काम षिंडुरी ।।
नितंब तुंग सोभए, अनंग अंग लोभए ।
मनौं कि रथ्थ रंभ के, सुरंभ चक्क संभ के ।।
नषादि आदि अच्छनं, मनो कि इन्द्र द्रप्पनं ।
ढरंत रत्त एडियं, उपम्म कब्बि टेरियं ।।
मनौं कि रत्त रत्तजा, चिकंत पत अंबुजा ।।

–पृथ्वीराज रासो, शशिव्रता–120 ।

यहाँ सखियों के संघ के साथ वन जाती हुई शशिव्रता के अङ्गों का सौंदर्य वर्णित है । भाषा कृत्रिम हो गयी है, फिर भी मूल तत्त्व अपभ्रंश के ही हैं । शोभा लाने हेतु तथा संस्कृतीकरण हेतु बारम्बार अनुस्वार का प्रयोग किया गया है । उन ललनाओं की चाल एवं नूनुर की शोभा को देख लजाकर हंस उस नगर से भाग गये, अर्थात् हंस की गति एवं आवाज फीकी पड़ गयी । (मुखकमल पर लट् बिखरे थे, जो लगते थे कि) भौंरो के झुंड मँडरा रहे हों या मानिये कि पक्षी के बच्चे (शावक) उगते हुए कमल (मुख) को जानकर उसके लाल पत्रों को चूम रहे हों । यमुना-जल के समान केश शोभित हैं । कामदेव के समान अंग लुभावने हैं । घड़े के समान स्तन उठे हुए हैं जिनकी उपमा किसी से देने के लिए सोचना पड़ेगा, मानिये कि उस बाला

के देह पर चमचमाते हुए लाल (रत्न) लाकर रखे गये हों। उसकी रोमावली शोभती है जो लगती है कि चींटियों की पंक्ति हो। उसकी नाभि कामदेव का कूप है जो चलती हुई क्यारी की तरह शोभित है। (बाँह और टांग की) मांस-पिण्डलियाँ चमचमाती शोभित हो रही हैं जो खराजे हुए (शान पर तेज किये हुए) कामदेव के खड्ग के समान हैं। ऊँचे या बड़े नितम्ब शोभित हैं जो कामदेव के समान अंग बनकर लुभाते हैं, मानिये कि केले के थम्भ (जाँघ) के ऊपर रथ हो और सुंदर रम्भा (कदली स्तम्भ) ही उसके चक्र हों। उसके नख स्वच्छ हैं, मानिए कि इन्द्र के दर्पण हो। उसकी एँड़ी लाल है जिसकी उपमा किसी से भी करते समय टाली जाती है, मानिए कि लाल-लाल चिकने कमल के पत्ते हों।

जैन कवि **जिनपद्म सूरि** (1200 ई.) कृत 'सिरि थूलिभद्द फागु' अपभ्रंश का एक महत्त्वपूर्ण लघु काव्य है। इसमें सौंदर्य का अङ्कन सरसता से किया गया है। नारी-सौंदर्य का एक उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है-

मयण-खग्ग जिमि लहलहन्त जसु वेणीदण्डो।
सरलउ-तरलउ सामलऊ रोमावलि-दंडो।
तुंग पयोहर उल्लसई सिंगार-थबक्का।
कुसुमबाणि निअ अमिय कुम्भ जिर थापणि मुक्का॥
काजलि अंजिवि नयण जुअ, सिरि संथड फाड़ेइ।
बोरियावड़ि कांचुलिय पुण, उर-मंहुलि ताड़ेइ॥
कन्न-जुयल जसु लहलहन्त, किर मयण-हिंडोला।
चंचल चपल तरंग-चंग जसु, नयण-कचोला।

सोहइ जासु कपोल-पालि, जणु दालि-मसूरा ।
कोमलु विमलु सुकंठ जासु, बाजइ सँखतूरा ।।
-सिरिथूलिभद्द फागु-12, 13, 14 ।

यहाँ 'कोशा' नाम की नायिका की वेणी (गूँथे हुए लटकते बाल) कामदेव की तलवार के समान लहलहा रही है, रोमावली की पंक्ति कोमल, चिकनी और साँवली है, ऊँचे स्तन, शृंगर-स्तबक के समान उल्लसित हो रहे हैं, जैसे कामदेव ने अपने अमृत के घड़े पर मुक्ताओं को सजा रखा हो । उसने दोनों आँखों में काजल लगाया, शोभामयी सींथ (माँग) को सँवारा और चोली पहनती हुई छाती को कसा । (कुंडल के द्वारा) लहलहाते (झूलते) दोनों कान मदन (काम) के झूले के समान लगते हैं, नयनरूपी कटोरे अति चंचल तरंगों से शोभित हैं, जिसके कपोल का विस्तार मसूर दाल के फूले हुए बड़े या मालपूए की तरह शोभित हो रहे हैं और कोमल कंठ शंखतूर्य (बजाने के शंख) के समान शोभित है ।'

अपभ्रंश-प्रयोग की अंतिम शताब्दी चौदहवीं के आदि भाग में कविशेखराचार्य **ज्योतिरीश्वर** हुए और इसी समय में **प्राकृत पैङ्गल** की रचना हुई । इसी शताब्दी के अंत में कवि कोकिल विद्यापति हुए । इनके ग्रंथों में सौंदर्य का अंकन प्रचुरतया देखा जाता है । ज्योतिरीश्वर का वर्णरत्नाकर मिथिला के अपभ्रंश में (मैथिली भाषा का प्राचीन रूप) है । इसमें अनेक वर्णनाएँ हैं । यहाँ स्त्री और पुरुष की एक-एक वर्णना प्रस्तुत की जा रही है । यह ग्रंथ पूर्णतः गद्य में है–

"पूर्णिमाक चान्द अमृत-पूरल अइसन मुह, श्वेत-पङ्कज काँ दल भ्रमर बयिसल अइसन आँखि, काजरक कल्लोल अइसन

भञुह, गथले फुले नर्मदाक शिला कआँ पूजल अइसन षोम्पा, पवराक पल्लव अइसन अधर, कनिअराक फर अइसन नाक, सिन्दुर मोति लोटाएल अइसन दान्त, बेँतक साट अइसन बाँह, पारिजातक पल्लव अइसन हाथ, छोलङ्ग छोलल अइसन पयोधर, काञ्चि-वरली अइसन आङ्गक वान, डमरूक माझा अइसन वेकण्ड'' ।

-वर्णरत्नाकर, सखीवर्णना ।

अर्थात् सखी का मुँह अमृत-पूर्ण पूर्णिमा-चन्द्र के समान है, उजले कमल पुष्प की पत्ती पर बैठे भौंरे के समान आँखें हैं, काजल के तरङ्ग के समान भौंह हैं, गुँथे हुए फूलों से नर्मदा नदी के पत्थर को पूजित किये जाने के समान खोपा (बंधे हुए बाल) है, प्रवाल (मूँगा) पल्लव के समान अधर है, कनेर फूल के फल के समान नाक है, सिन्दूर में लुढ़कती हुई मोती के समान दाँत हैं, बेँत की छड़ी जैसी बाँहें हैं, पारिजात के पल्लव के समान हाथ हैं, छिलका हटाये हुए बड़े नींबू की तरह स्तन हैं, कच्चे वरड़ी (कमल बीज) या काञ्चनवल्ली (स्वर्णलता) के समान अङ्ग का वर्ण है और डमरू के मध्य भाग के समान कटिप्रदेश है । इस आलंकारिक सौंदर्य वर्णन में लगता है कि अंग-अंग को सामने रख रहा है ।

''गुजर परिवेटरा एक मन्था बंधने, हिराधारक कलिआ चारि कान पहिरलें, सारु सोनाक टाड़ चारि बाँह पहिरलें, चतुस्समे अङ्गराग कएने, सफुर उञ्च पाढ़ि समेत तारामंडलक विसह पछेओरा एक दोबल कइ डण्ड उपर कइ चलओले, मकलाक पटा एक पहिरलें, एक खम्पा भाण्डी कान्ध पालने, विदाञोत आस्थान भीतर भउ'' ।

-वर्णरत्नाकर, विद्यावन्तवर्णना ।

विद्यावन्त (नृत्यकलाकार) राजसभा के भीतर हुआ, जो एक गुजराती परिवेष्टन (मुरेठा) माथे पर बान्धे हुए था, हीरा से जटित चार कर्णफूलों को कान में पहने हुए था (एक-एक कान में दो-दो), शुद्ध सोने का बाजू देह में लगाये हुए था, चकमक ऊँचे किनारेवाला तारामंडल नामक कपड़े के मुखपृष्ठ चौपेत (चार बार मोड़) कर कमर पर बांधे हुए था, रेशमी वस्त्र पहने हुए था, खम्पा-भाण्डी नामक वाद्ययंत्र को कांधे पर रखे हुए विद्यावन्त (नाट्याचार्य) था । यहाँ परिधान वस्त्रालङ्करण द्वारा पुरुष-सौंदर्य चित्रित हुआ है ।

प्राकृतपैङ्गल के कवि **बब्बर** ने संक्षिप्त, किन्तु साररूप में नारीरूप को प्रस्तुत किया है-

(1) हरिण-सरिस्सा णअणा, कमल-सरिस्सा वअणा ।
जुवजण-चित्ता-हरिणी, पियसहि ! दिट्ठा तरुणी ॥ 2-79 ॥

(2) खंजण जुअल णअणवर उपमा ।
चारु-कणअ-लइ भुअजुअ सुसमा ॥
फुल्ल-कमलमुहि गअवर-गमणी ।
कासु सुकिअ-फल विहि गढु तरुणी ॥

-प्राकृत पैङ्गल-2-153 ।

उपर्युक्त प्रथम पद्य में तरुणी की आंखों को हरिण की आँखों के समान कह कर उसकी विशलता की ओर इंगित किया गया है, जबकि द्वितीय पद्य में खञ्जन के समान कह कर उसकी चञ्चलता को व्यक्त किया गया है । मुख को विकसित कमल कहकर प्रसन्नता की ओर ध्यान केन्द्रित किया गया है । कनकलता के समान बाहों से पतलापन और चमक तथा हाथी की चाल के

समान गति से मदभरी गति सूचित की गयी है ।

चौदहवीं शताब्दी के अंत में कविकोकिल **विद्यापति** ने कीर्त्तिगाथा, कीत्तिपताका और **कीर्त्तिलता** इन तीन काव्यों की अवहट्ठ भाषा (प्राचीन मैथिली) में रचना की । इनका सौंदर्यवर्णन सांगोपांग होता है । वीरगाथात्मक काव्य में भी यदा-कदा सौंदर्य दर्शाते चलते हैं और पुरुष-रूप सौन्दर्य का तो इनके काव्यों में ऐसा ही हल्का चित्रण मिल जाता है-

"लावण्णें गरुअ गएणेस पुनु, देक्खि अभासइ पञ्चसर" ।

-कीर्त्तिलता-1-26 ।

राजा गणेश सौंदर्य में श्रेष्ठ थे, वे देखने में कामदेव ही मालूम पड़ते थे ।

'हुअउ दहुआसन तेजँ, कन्त कसुमाउह सुन्दर' ।

-कीर्त्तिलता-1-24 ।

राजा भोगीश्वर अपने तेज के कारण अग्नि ही थे और कान्ति के कारण सुंदर कामदेव ही थे ।

परन्तु नारी-वर्णन में विद्यापति सयत्न दिखाई देते हैं । कीर्त्तिलता और कीत्तिपताका में इन्होंने बहुत ही मनोरम रूपवर्णन प्रस्तुत किया है:-

''तन्हिक केस कुसुम बस, जनि मान्यजनक लज्जाव-लम्बित-मुखचन्द्र-चन्द्रिका करी अधओगति देखि अन्धकार हस । नयनाञ्चल-सञ्चारे भ्रूलता भङ्ग, जनि कज्जल-कल्लोलिनी करी बीची बड़ि-बड़ि सफरी तरङ्ग । अतिसूक्ष्म सिन्दूर रेखा निदन्ते पाप, जनि पञ्चसर करो पहिल प्रताप । दोखे हीनि, माझ खीनि,

रसिके अनालि जूआँ जीनि । पयोधर करे भारेँ भाङ्गए चाह, नेत्र करे तितीयभागेँ तीनू भुअण साह" ।

-कीर्त्तिलता-2-35 ।

उस (वेश्या) के केश में फूल सजाकर रखे हैं, सो लगता है कि मान्य लोगों के लज्जावनत मुखचन्द्र की चन्द्रिका को नीचे होते हुए देखकर अंधार (केशरूपी राहु) हँस रहा है (उजले फूल के रूप में) । आँखों के संचार से भौंह रूपी लता टेढ़ी हो जाती है, जैसे काजल की नदी की लहर में बड़ी-बड़ी पोठी मछलियाँ कूद रहीं हैं । पतली सिन्दूर की रेखा उसके पापाचार की निन्दा करती मालूम पड़ती है, जैसे यह कामदेव का प्रथम प्रताप ही हो । दोष से हीन, मध्य में (कमर में) क्षीण (दुबली) है । रसिक ने इसे जूआ में जीतकर लाया है । यह स्तन के भार से टूटना चाहती है । अपने नेत्र के तृतीय भाग से तीनों भुवनों को साधित कर लेती हैं ।

यहाँ नायिका के सौंदर्य से उत्पन्न स्थिति को भी आलंकारिक ढंग से दर्शाया गया है । इससे सौंदर्यतिशय ध्वनित हो रहा है । अब हम विद्यापति की कीर्त्तिपताका की ओर चलें । उसके पूर्व भाग आद्यन्त खंडित है जो अनुमानतः **कीर्त्तिगाथा** कहा जाता है । यह अंश श्रृंगारमय होने से सौंदर्य का भंडार ही है । यहाँ एक झलक प्रस्तुत है-

दीरघ केस कपाल, कुटिल कोमल घन-सामर ।
दप्प मत्त कन्दप्प, धनू जनि बन्धिअ चामर ।।
निक्कलङ्क ससि-विम्ब, सरिस सुन्दर मुखमण्डल ।
पिअ अनुराग कहन्त, सवन डोलइ बे कुण्डल ।।

गुरु पीन पयोधर भार भरे, मत्त मतङ्गज मन्द गति ।
संसार सार सिङ्गार रस, कमनक चित्त न हर जुवति ।।
–कीर्त्तिपताका (कीर्तिगाथा)–2–19 ।

अर्थात् बड़े टेढ़े घनश्यामल कोमल केश कपार पर लटक रहे हैं, लगता है कि दर्प से उन्मत्त कामदेव ने अपने धनुष पर चँवर बान्ध रखा है । निष्कलङ्क चन्द्रमंडल के समान सुंदर मुख मंडल है । उसके कानों में दो कुंडल डोल रहे हैं जो प्रिय के अनुराग को व्यक्त करते जान पड़ते हैं । भारी एवं पुष्ट स्तन के भार के कारण मतवाले हाथी के समान मन्द गति से चलती हुई वह युवती संसार के सार स्वरूप शृंगार रस के रूप में स्थित किसके मन को नहीं हर लेती ? अर्थात् सभी के मन को अवश्य हर लेती है ।

(2) नर–नारी के आंतरिक (शीलगत) सौंदर्य–चित्रण–

रूपगत सौंदर्य की अपेक्षा शीलगत सौंदर्य का कम महत्त्व नहीं है । यथार्थतः गुण ही पूज्य होते हैं । गुणवानों के प्रति आकर्षण होना स्वाभाविक है । साधारण व्यक्ति भी गुण के कारण प्रशंसनीय एवं स्पृहणीय हो जाता है और सौंदर्य भी तो उसे ही कहते हैं, जो लोगों को आकृष्ट कर ले । रूप–सौंदर्य की भाँति ही शीलगत सौंदर्य का भी चित्रण अपभ्रंश के काव्यों में प्रचुरतया पाया जाता है । सामान्यतः यह देखा जाता है कि कवियों ने पुरुषों के रूपसौंदर्य की अपेक्षा गुणसौंदर्य को ही अधिक रूप से वर्णित किया है जबकि नारी के विषय में ठीक इसका उल्टा पाया जाता है और यही प्रकृति का विधान है, सामाजिक रीति है और लोगों की प्रवृत्ति है । अब प्रस्तुत है अपभ्रंश के **महाकवि स्वयंभू** द्वारा आंतरिक सौंदर्य–वर्णन–

जो जण-मण-णयणाहिरावणो, पर णरवर-हरिण-इरावणो ।
दुद्धर-धरणीधर-धरावणो, भड-थड-कडमद्दण-करावणो ।।
दुज्जण-जण-मण-जज्जरावणो, करि कुम्भत्त्थल कप्परावणो ।
धणय-पुरन्दर-थरहावणो, शरणोदय-भय-परिहरावणो ।
दाणविन्द-दुद्दम-डरावणो, अमर-मणोहर-बहु-अरावणो ।
दाण महाहयणे तुरावणो, णिसुणिउ जं जम्पन्तु रावणो ।।

-पउम चरिउ, जुज्झकण्डं-57,3 ।

उपर्युक्त वर्णन लंका में युद्ध हेतु पहुँचे हुए श्रीराम का है, जो उनके प्रतिद्वन्द्वी रावण की ही उक्ति है । जब परम शत्रु की दृष्टि में श्री रामचन्द्र इतने गुणवान् थे तो औरों की दृष्टि की बात ही क्या है । जो श्री रामचन्द्र लोगों के मन और नयन के आनंददायक (अभिरामक), शत्रु नरपति रूपी हरिणों के लिए ऐरावत हाथी, दुर्धर राजाओं या पर्वतों के उद्धारक, भट (वीर) समुदाय के विनाश करानेवाले, दुर्जनों के मन को जर्जर बनानेवाले, हाथी के मस्तक को काटनेवाले, धनद (कुबेर) और इन्द्र को थर्रानेवाले, शरणागतों के भय का परिहार (समाधान) करनेवाले, दुर्दम दानवेन्द्र को डरानेवाले, देवताओं की मनोहर वधुओं के कष्ट दूर करनेवाले और दानरूपी महान् घोड़े को प्रेरित करनेवाले हैं- जिनके (राम के) ऐसे यश को सुनकर रावण भी प्रशंसा कर रहा है' । यहाँ श्रीराघवेन्द्र जी के त्रैलोक्य विजयी गुणों को प्रस्तुत किया गया है, जिससे उनके व्यक्तित्व का सौंदर्य निखर उठा है ।

जाणमि जिह हरिवंसुप्पण्णी, जाणमि जिह वय-गुण-संपण्णी ।
जाणमि जिह जिणसाणे भत्ती, जाणमि जिह महु सोक्खुप्पत्ती ।।

जाणमि अणु-गुण-सिक्खाधारी, जाणमि सम्म-रयण-मणि-सारी ।
जाणमि जिह सायर-गंभीरी, जाणमि जिह सुर-महिहर-धीरी ।।
जाणमि अङ्कुस-लवण-जनेरी, जाणमि जिह सुय जणयहाँ केरी ।
जाणमि सस-भामंडल रायहोँ, जाणमि सामिणि रज्जहोँ आयहोँ ।
जाणमि जिह अन्तेउर-सारी, जाणमि जिह महु पेसण-गारी ।।
-पउमचरिउ, उत्तरकण्डं-83, 3 ।।

यहाँ श्री राघवेन्द्र का सीता के विषय में उद्गार वर्णित हुआ है । वे कहते हैं कि मैं सीता को आंतरिक रूप से भली भाँति जानता हूँ जो सूर्यवंश में उत्पन्न है, अवस्था और गुणों से सम्पन्न है, जो विश्व विजेता (जिन=परमात्मा) के शासन (नियम) में भक्ति रखती है, मेरे सौख्य (आनंद) की उत्पत्ति (कारण) है, गुणों के अनुरूप शिक्षा धारण करती है, सौम्य (मृदु स्वभाव) में सकल रत्नों और मणियों के समान है, सागर के समान गंभीर है, देवपर्वत (सुमेरु)-सा धैर्य रखती है, कुश और लव की जनयित्री (माता) है, जनक की सुता है, चन्द्रमंडल की दीप्ति-सी शोभित है, आगत राज्य की स्वामिनी है, मेरे अंत:पुर का सार (सर्वोत्कृष्ट) है और मेरे आदेश का पालन करने वाली है । ये रत्न आदि विशेषण सीता की अतुल गुणवत्ता दर्शा रहे हैं जिससे उसका आंतरिक (शीलगत) सौंदर्य निखर उठा है ।

पुरुष के गुण गाते हुए **धनपाल** (950 ई.) ने अपने **भविस्सयत्तकहा** (भविष्यदत्त कथा) में लिखा है-

"जोव्वण-विआर रसवस पसरि, सो सूरउ सो पंडियउ ।
चल-मम्मह-वयणुल्लाबएहिं, जो परतियहि ण खंडियउ" ।।

अर्थात् वही शूर है, वही पंडित है जो यौवन-विकास

स्वरूप शृंगार रस के वश में मन को फैला कर चञ्चल कामजनित वचनों के आलाप से परस्त्री का शीलभङ्ग न करे ।

हेमचन्द्र ने एक वीरांगना के धैर्य एवं स्वाभिमान को इस दोहे में बड़ी कुशलता के साथ अंकित किया है–

'भल्ला हुआ जो मारिआ, बहिणि ! महारा कन्तु ।
लज्जेज्यंतु वयंसिहु, जइ भग्गा घर एन्तु' ।।
–सिद्धहेमशब्दानुशासन–8–351 ।

वीरांगना कहती है कि हे बहिन ! (यदि संग्राम में जीत नहीं सका तो) यही भला हुआ कि मेरा कान्त (प्रियतम) वहाँ मारा गया । यदि वह वहाँ से भागा हुआ घर आता तो वयस्याओं (सखियों) के बीच मैं बहुत ही लज्जित होती ।

अब प्रस्तुत है **चंदबरदायी** द्वारा पृथ्वीराज के शौर्य का वर्णन–

'दिल्लीवै चहुआन महाभर, सो तुम जोग चिन्तयौ हम वर ।
सत–सामंत सूर बलकारी, तिन सम जुद्ध सु देव विचारी ।।
जिन गहियौ सरवर गज्जनवै, हय–गय मण्डि छंड़ि पुनि हियवै ।
गुज्जरवै चालुक्क भीमतर, ते दिन–राति डरै जंगल धर' ।।
–पृथ्वीराज रासो, शशिव्रता०–10 ।

शशिव्रता के लिए वर ढूँढ़कर आया हुआ हंस, पृथ्वीराज के पराक्रम का वर्णन करता है कि हे शशिव्रता ! दिल्ली के चौहान पृथ्वीराज महान् भट (वीर) है, उसे ही हम तेरे योग्य वर मानते हैं । उसके पास सैकड़ों वीर बलवान् सामंत हैं, देवता भी उससे युद्ध करने की अभिलाषा करते हैं, उसने गजनीपति मुहम्मद

गोरी को पकड़ के हाथी-घोड़ा देकर फिर छोड़ दिया, उसके डर से गुर्जरपति चालुक्य भीम भी रात-दिन जंगल में शरण में ले रहा है ।

कवि विद्याधर ने काशीश्वर की वीरता का वर्णन परंपरागत शैली में किया है-

'भउ भज्जिअ बंगा, भंगु कलिंगा, तेलंगा रण मुक्ति चले ।
मरहट्ठा धिट्ठा लग्गिअ कट्ठा, सोरट्ठा भअ पाअ चले ।।
चंपारण कंपा, पव्वअ झंपा, ओत्था-ओत्थी जीव हरे ।
कासीसर राणा, किअउ पआणा, विज्जाहर भण मंतिवरे' ।।

-प्राकृतपैङ्गल-1-145 ।

काशीराज ने जब दिग्विजय के लिए प्रस्थान किया तो बंगदेश के राजा भय से भज्जित (हार) हो गये, कलिंग (उत्कल) के राजा भाग गये, तैलंग के राजा रण छोड़कर चले गये, धृष्ट मराठे सुदूर दिशा में भाग गये, सौराष्ट्रवाले भय से पैरों पड़ने लगे, चंपारण के राजा पर्वत के आड़ में झँपे (छिपे) हुए काँपने लगे और उठ-उठकर मरने लगे, ऐसा मंत्रिवर विद्याधर कर रहे हैं ।

इसी प्रकार **कवि हरिब्रह्म** अपने तिरहुत राज्य के मंत्रियों के गुणों को बखान रहे हैं-

(1) 'सुर-अरु, सुरही, परस-मणि, णहि वीरेस-समाण ।
ओ वक्कल ओ कठिण तणु, ओ पसु ओ पासाण' ।।

-प्राकृतपैङ्गल-1-79 ।

अर्थात् कल्पवृक्ष, कामधेनु और स्पर्शमणि (पारस मणि) ये तीनों भी मंत्रिप्रवर वीरेश्वर (चंडेश्वर मंत्री के पिता, तिरहुत

देश का मंत्री) के समान नहीं हैं क्योंकि वह कल्पवृक्ष काठ तथा कठिन देहवाला है, कामधेनु पशु है और पारस पत्थर है । तात्पर्य यह है कि उन तीनों में जितने गुण हैं वे वीरेश्वर में भी हैं । तदनुसार ये याचकों के मनोरथ पूर्ण करते हैं, कोई इनके द्वार से निराश नहीं जाता है और मुँह माँगे दान होते हैं । (यह वीरेश्वर राजा हरिसिंह देव का मंत्री और अनेक ग्रंथों के रचयिता थे-1300 ई.) ।

(2) 'जहा सरअ-ससिबिंब, जहा हरहास हंस ठिअ ।
जहा फुलल सिअ-कमल, जहा सिरिखंड खंड किअ ।।
जहा गंग कल्लोल, जहा रोसाणिअ रुप्पई ।
जहा दुद्धवर सुद्ध, फेण फंफाइ तलप्फइ ।।
पिअ पाअ पसाए दिट्ठि पुणु, णिहुअ हरस जह तरुणि-जण ।
वर मंति चंडेसर ! कित्ति तुअ, तत्थ देक्ख हरिबंभ भण' ।।
-प्राकृतिपैङ्गल-1-108 ।

उपर्युक्त पद्य में **मिथिला** (तिरहुत) के महान् **मंत्री चंडेश्वर** (1320 ई.) के अनन्त गुणों से प्राप्त यश की शुभ्रता वर्णित हुई है । कविसंप्रदाय के अनुसार यश को उजला माना जाता है और उसकी उपमा उजले पदार्थों से दी जाती है । हरिब्रह्म कवि कहते हैं कि हे मंत्रिवर चंडेश्वर ! आपके यश वैसे ही शोभते हैं जैसे शरद् ऋतु का चंद्रविम्ब, शिव का हँसना, हंस की स्थिति, खिले श्वेत कमल, खंडित श्रीखंड चंदन, गङ्गा की तरङ्ग, मँजी हुई रूपा (चान्दी), ताजा उफनाता हुआ दूध का स्वच्छ फेन और प्रिय के चरणों पर गिरने पर प्रसन्न तरुणियों का हँसना हो ।'

इसके बाद **विद्यापति** ने कीर्त्तिलता एवं कीर्त्तिपताका में

पुरुषों के गुणों को ही मुख्य विषय बनाया । यहाँ कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं-

'धम्म पराअण हिअअ, विपअ-काल णहु दीन जम्पइ ।
सजह-भाव सानन्द, सुअने भुञ्जिअइ जासु सम्पइ ।।
रहसे दव्व दए विस्सरई, सत्तसरूअ सरीर ।
एत्ते लक्खणेँ लक्खिअइ, पुरिस पसंसओ वीर' ।।

-कीर्त्तिलता-1-16 ।

अर्थात् जिसका हृदय धर्म में लगा हो, विपत्तिकाल में भी दीन-हीन वचन नहीं बोलता हो, सदा सहज-भाव में ही आनंदित रहे, जिसकी संपत्ति का उपयोग सुजन ही करते हों, एकान्त में किसी को द्रव्य देकर भूल जाता हो और जिसका शरीर बल से भरा हो (उत्साह-मंडित हो)- इन लक्षणों से लक्षित वीर पुरुष की प्रशंसा करता हूँ ।

'राअ अज्जुण गरुअ पहुधम्म ।
मज्जादा बस हिअअ, रस विवेक, बसु दाने मण्डिअ ।
सूरत्तणे जगदेव, खग्ग खण्डि परिपन्थि दण्डिअ ।।
करुणा बसइ विवेक सओ, खेमा सत्तेओ सङ्ग ।
धम्म सहित सिङ्गार रस, कव्व-कलाबहु रङ्ग' ।।

-कीर्त्तिपताका-2-5 ।

उपर्युक्त पद्य (रड्डा छंद) में तिरहुत के राजा अर्जुन राए के गुण वर्णित हैं । वे राजा के धर्म (आवश्यक गुण) के धारण करने में सर्वश्रेष्ठ हैं । उनके हृदय में मर्यादा बसती है, रस (शृंगारिकता) विवेक से तथा धन दान से शोभित है । शूरता से जगदेव (अर्जुन राए) खड्गद्वारा खंडित करके शत्रु को दंडित

करते हैं । उनमें विवेक के साथ करुणा बसती है, सत्त्व (बल) के साथ क्षमा बसती है, धर्म के साथ शृंगार रस रहता है और काव्य-कलापों में दिलचस्पी रहती है' । इस प्रकार उनका शीलगत सौंदर्य अनुपम है ।

(3) मानवेतर जीव-जंतुओं के रूप एवं क्रिया-कलापवर्णन-

अपभ्रंश साहित्य में मानव के अतिरिक्त पशु, पक्षी, कीट आदि के रूपसौंदर्य और उनके क्रियाकलापों के सौंदर्य का चित्रण अनेकशः पाया जाता है । यहाँ इनके कतिपय वर्णन प्रस्तुत किये जा रहे हैं-

गोरोअणा कुंकुमवण्णा, चक्का ! भणइ मई ।
महुवासर कीलंती, धणिआ ण दिट्ठी पई ।।

-विक्रमोर्वशीय-3, चर्चरीगीतिः 19 ।

यहाँ महाकवि **कालिदास** ने चक्रवाक (चकबा) पक्षी के वर्ण को वर्णित कर उसके रूपसौंदर्य को निखारा है । गोरोचन और कुंकुम के समान वर्णवाले चक्रवाक ! तुम मुझे कहो कि मधुवासर में खेलती हुई मेरी प्रिया को तूने नहीं देखा है ?

रे रे हंसा ! किं गोइज्जइ, गइ-अणुसारेँ महँ लक्खिज्जइ ।
कहँ पइँ सिक्खिउ ए गइ-लालस, सा पइँ दिट्ठी जहणभरालस ।।

-विक्रमोर्वशीय-3, चर्चरी-17 ।

यहाँ उर्वशी के विरह में पुरूरवा के प्रलाप में हंस की गति (चलने की रीति) वर्णित है । अरे हंस ! तूँ मुझसे क्या छिपा रहा है (किन्तु मेरी प्रिया को देखने पर भी मुझे नहीं बता रहा है), पर तेरी गति के अनुसार मैंने तुझे लक्षित कर लिया है । इस

आकर्षक गति को तूने कहाँ पर सीखा ? तूने जाँघ के भार से अलसायी हुई मेरी प्रिया को अवश्य देखा है (और उसीसे यह चाल तूने सीख ली है ।) हंस के गमन की उपमा तरुणी की विलासमय गति से देकर उसका अपूर्व सौंदर्य व्यक्त किया गया है ।

बौद्ध सिद्धों के गान एवं दोहों में यद्यपि परमतत्त्व के चिंतन को ही मुख्य विषय बनाया गया है, तथापि उन तत्त्वों को सांसारिक विषयों से बहुत स्थल पर रूपक बांधा गया है । भले गौण रूप में ही हो, पर अनेक जीव-जंतुओं का वर्णन वहाँ प्राप्त होता है । प्रस्तुत है **भुसुकपाद** का किया एक वर्णन-

'निसि अंधारी मुसअ चारा ।
अमिअ भखअ मुसा करअ अहारा' ।।

-बौद्धगान ओ दोहा-2(21) ।

'अंधेरी रात में मूस चल रहा है । यह मूस अमृत भक्षक (अच्छे चीजों को खानेवाला) है । इसी समय वह घूम-घूम कर आहार जोहता है' । यहाँ रात से अज्ञानावस्था एवं मूस से इंद्रियों के अभिप्रेत रहने पर भी वाच्यार्थ दशा में मूसा का स्वाभाविक वर्णन हुआ है ।

विसअ-विसुद्धे णउ रमइ, केवल सुण्ण चरेई ।
उड्डी वोहिअ-काउ जिम, पलुटिअ तह बिह पड़ेइ ।।
विसआसत्ति म बंध करु, अरे बढ़ ! सरहे बुत्त ।
मीण-पअङ्गम-करि-भमर, पेक्खह हरिणहँ जुत्त ।।

-दोहाकोश-70 एवं 71 ।

उपर्युक्त दोहा आचार्य **सरहपाद** का है जिसमें विषयासक्ति न करने का उपदेश दिया गया है । प्रथम दोहा में जहाज पर रहनेवाले कौए की स्थिति एवं स्वभाव दर्शाया गया है । सरह कहते हैं कि जो सांसारिक विषयों में पूर्णत: नहीं रमता और केवल शून्य में विचरण करता है, वह जहाज के काक की तरह उड़कर फिर लौटकर वहीं आ जाता है, क्योंकि उसे दूसरा आधार ही नहीं मिलता है । उसका स्वभाव होता कि समुद्रस्थित जहाज पर से उड़कर वह बहुत दूर तक तो चला जाता है पर लौटकर वहीं चला जाता है, उसी प्रकार जो विविध विषयों से विरत रहकर विचरण करता है, वह लौटकर अपने ही आश्रय को प्राप्त करता है । परमात्मा से निस्सृत जीव परमात्मा में ही समा जाता है ।

दूसरे दोहे में लोगों को सावधान करते हुए सरपाद कहते हैं कि अरे मूर्ख लोगों ! विषय की आसक्ति में अपने को मत बांधों, अन्यथा बंधे हुए बहुत पछताओगे । देखो, विषय में आसक्त होने पर मछली, पक्षी, हाथी, भमर और हरिण बंधे हुए सीदित होते हैं । इनका स्वभाव ही है लोभवश फँसना । मछली चारे के लोभ से बड़शी में, पक्षी दाने के लोभ से जाल में, हाथी हथिनी के लोभ से गड्ढ़े में, भ्रमर पराग के लोभ से कमलकोश में और हरिण फसल खाने के लोभ से फंदे में बंध कर नष्ट होते हैं । इस एक ही दोहे में कवि ने अनेक पशु-पक्षियों के क्रिया-कलापों को निरूपित कर दिया है ।

‘भोगहँ करहि पमाणु जिय, इंदिय म करिसि दप्प ।
हुंति ण भल्ला पोसिया, दुद्धेँ काला सप्प” ।।

-सावय-धम्मदोहा-3 ।

उपर्युक्त दोहे में कवि **देवसेन** ने अपने श्रावक-धर्म-दोहा के अन्तर्गत लोगों को इंद्रियों को बढ़ावा देने से रोका है और उसके दृष्टान्त में काला सर्प को उपस्थित किया है । भोग का अनुभव केवल जीभर करना तो चाहिए, पर इंद्रियों का दर्प नहीं बढ़ाना चाहिए । जैसे काला नाग (गेहुँअन साँप) को दूध पिलाकर पोसना अच्छा नहीं होता है । वह उससे अधिक विषैला और भयावह ही होता है ।

आचार्य हेमचन्द्र ने सिंह से त्रस्त हरिण का बड़े स्वाभाविक वर्णन प्रस्तुत किया है-

"गयउ सु केसरि पिअहु जल, णिच्चिंतइ हरिणाइँ ।
जसु केरएँ हुंकारएँ, मुहहुँ पडित तृणाइँ" ।।

-सिद्धहेमशब्दानुशासन-8-422 ।

वह केसरी (सिंह) चला गया, अब हे हरिणों ! तुम निश्चिन्त होकर जल पिओ, जिसके हुँकार से तुम्हारे मुँह में भी स्थित तृण गिर जाते हैं ।

प्राकृतपैङ्गल के कवि **बब्बर** ने कोयल की कूक से उत्पन्न विरहिणी की व्याकुलता का मनोरम वर्णन प्रस्तु किया है:-

'चड़ि चूअ कोइल-साव, महुमास पंचम गाब ।
मण-मज्झ वम्मह ताब, णहु कन्त अज्जबि आब' ।।

-प्राकृत पैङ्गलम्-2-87 ।

अर्थात् मधुमास (वसन्त) में कोयल के शावक (बच्चे) आम के पेड़ पर चढ़ के पंचम स्वर में गा रहे हैं । मन मध्य (मन में) कामदेव ताप दे रहे हैं, फिर भी आज तक कांत नहीं आ रहा

है । कोयल के बच्चे की कूक की मिठास निराली है । संगीत में इसे पंचम स्वर कहते हैं । यह जिस तरह मिलन में उल्लसित करता है, वैसे ही विरह में सताता है ।

हाथी पशुओं में महत्तम होता है । इसकी पंक्ति घनघटा की छवि लाती है । इसकी ऊँचाई पर्वत की स्पर्धा करती है, विस्तार पहाड़ी ढलान जैसे लगता है । युद्धयात्रा में इसका वर्णन द्रष्टव्य है:-

'कुंजरा चलन्त आ, पव्वआ पलंत आ ।
कुम्भ-पिट्ठ कंपए, धूलि सूर झंपए' ।।
-प्राकृतपैङ्गलम्- 2-59

तात्पर्य यह है कि हाथी चले आ रहे हैं, (काले) पर्वत गिरते आ रहे हैं, इससे (धरती को धारण करनेवाले) कूर्म=कछुए की पीठ काँपने लगती है ओर धूल उड़ने से सूर्य भी झँप जाता है ।

कवि कोकिल **विद्यापति** ने **हाथियों** का विस्तृत एवं रमणीय वर्णन प्रस्तुत किया है-

''अनवरत हाथि, मअमत्त जाथि ।
भाँगन्ते गाछ, चापन्ते काछ ।।
तारेन्ते डोल, मारन्त घोल ।
संगाम थेघ भूमिट्ठ मेघ ।।
अन्धार कूट, दिग्विजय छूट ।
ससरीर गव्व, देखन्ते भव्व ।।
चालन्ते कान, पव्वअ समान'' ।।

''गरुअ गरुअ सुण्ड, मारि दलन्ते मानुस करो मुण्ड । जनु विन्ध्य सञो विधाताञे विछि काढ़ल, कुम्भोद्भव करे नियमातिक्कमे पेलि पव्वतओ बाढ़ल । धाए खनए मारए जान, महाउतक आँकुस महतेँ मान ।''

–कीर्त्तिलता–4–7–11 ।

यहाँ हाथियों के रूप और क्रियाकलाप का सौंदर्य चित्रित हुआ है । मदमत्त हाथी लगातार जा ही रहे हैं । (अनगिनत हैं), पेड़ को तोड़ते हुए, जाँघों तले दवाते हुए, रस्सों को तोड़ते हुए, चिंग्घाड़ करते हुए या घोंड़ों को मारते हुए संग्राम को टेक लेते हैं, वे भूमि पर स्थित मेघ ही हैं, जमा हुए अंधकार हैं, दिग्विजय के लिए छूटे हैं, शरीर धारण किये गर्व ही हैं, देखने में भव्य हैं, कान डुला रहे हैं, पर्वत के समान विशाल हैं' । उनके बड़े-बड़े सूँड़ हैं, जिनसे वे मनुष्य के मुण्ड को पकड़ के गिराकर विदलितकर (कुचल) देते हैं । लगता है कि विन्ध्य-पर्वत से टुकड़ों को चुनकर विधाता ने इन्हें बनाया हो, अगस्त्य मुनि के नियम (तुम ऊँचा मत होओ) की उपेक्षा कर वह पर्वत हाथीके रूप में बढ़ गया है । दौड़ते, खनते (मिट्टी खरोंचते) और जान मार देते हैं, पर महावत (फिलवान) के अंकुश को महत्त्व के कारण मान लेते हैं ।

विद्यापति ने कीर्त्तिपताका में भी **गजवर्णन** किया है:-

"करि उप्पर उडकिअ रेनु भरे ।
जनि पव्वअ झम्पिअ वारिधरे ।।
दिसि चारिहु चप्परि दन्ति-घला ।
जनि बेढ़िअ मेहे ससाङ्ककला" ।।

–कीर्त्तिपताका–3–17 ।

यहाँ हाथी के स्वभाव, क्रिया एवं रूप का सौंदर्य अंकित किया गया है । हाथी अपने ऊपर सूँड़ में धूल भरकर उड़ेलता है जो लगता है पर्वत के ऊपर वारिधर (मेघ) बरस रहा हो या उसे झाँप रहा हो । चारों ओर से दान्ति-घटा (हाथियों के झुंड) आक्रमण कर रहे हैं जैसे चन्द्रकला रूपी तेजस्वी राजा शिव सिंह को मेघों ने घेर लिया हो । हाथियों के रूप घन-श्यामल मनोहर हैं ।

विद्यापति का **अश्ववर्णन** अपभ्रंश-साहित्य में ही नहीं, सभी भाषाओं के कवि के लिए एक आदर्श ही प्रस्तुत है :-

'अनेअ वाजि तेजि-ताजि, साजि-साजि आनिआ ।
परक्कमेहि जासु नाम, दीपे-दीपे जानिआ ।।
विसाल कन्ध चारु बन्ध, कण्ण-सुत्ति सोहना ।
तलप्पि हाथि लाँघ जाथि, सत्तुसेन-खोहना ।।
समत्त्थ सूर ऊर पूर, चारि पाअ चक्करे ।
अनन्त जुज्झ मम्म बुज्झ, सामि तार सङ्गरे ।।
सुजाति सुद्ध, कोहेँ कुद्ध, तोरि धाव कंधरा ।
विमुद्ध दापे मार टापे, चूरि जा वसुंधरा ।।
विपक्ख केरि सेन हेरि, हिंसि-हिंसि दामसे ।
निसान-सद्द भेरि नद्द, खोणि खुन्द तामसे ।।
तजान-भीत वात जीत, चामरेहिं मण्डिआ ।
विचित्त चित्त नाच नित्त, राग-बाग-पण्डिआ" ।।

-कीर्त्तिलता-4, 13-15 ।

यहाँ घोड़ों के रूप, गुण एवं क्रियाओं का सौंदर्य चित्रित हुआ है । युद्ध उद्यत घोड़े के स्वभाव का ऐसा वर्णन हुआ जैसे

कि हम उन्हें देख ही रहे हों । तेजी और ताजी जाति के अनेक घोड़े सजा-सजाकर लाये गये, पराक्रम से जिनका नाम प्रत्येक द्वीपों में जाना जाता था । उनका कंधा विशाल, शरीरबन्ध सुगठित और कान (भीतर से) सितुए के समान चमकदार थे । वे तड़प (उछल) कर हाथी को भी लाँघ जाते थे और शत्रुसैन्य को क्षोभित कर देते थे । ये शक्तिशाली वीर, पुष्ट छातीवाले, चारों पाँवों से चक्कर लगानेवाले, अनंत युद्धों के मर्म को समझने वाले घोड़े अपने स्वामी को युद्ध में पार कर देते थे । वे उत्तम जाति के शुद्ध घोड़े क्षोभ से तमतमाये गर्दन उठाकर दौड़ते हुए दर्प से चूर होकर खुर के आघात से पृथ्वी को चूर्ण कर देते थे । विपक्ष के सैन्य को देखकर दर्प से हिनहिनाते थे और डंका के शब्द और नगाड़े की आवाज से तमतमाकर पृथ्वी को खनने लगते थे । चाबुक के डर से इतने तेजी से दौड़ते थे कि हवा को भी जीत जाते थे । वे चँवर से शोभित थे, चित्र-विचित्र के नाच हमेशा नाचते थे और अपने सहीस के राग (हाँकने का लययुक्त शब्द) और बगडोर के संकेत को समझने में निपुण थे ।

विद्यापति ने **कीर्त्तिपताका** में अनेक जगह हुण्डाल (वृक, भेड़िया) का वर्णन निर्भीक आक्रामक के रूप में किया है:-

"हुण्डाल विभालिअ वने परि, रण पवेस चतुरङ्ग बल ।
घन घाइले आहवे पुहुवि भरु, जे उब्बरु से पलाए चल' ।।
-कीर्त्तिपताका-3, 5 ।

भेड़िये से आक्रमण किये गये वन की भाँति रण में चतुरङ्ग सेना प्रवेश कर गयी, बहुत से घायलों से युद्ध की पृथ्वी भर गयी, जो वहाँ उबर (बच) गये वे भाग निकले' । यहाँ

भेड़िया का वह स्वभाव अंकित है जो वह निर्भय होकर एकाएक वन में घुसकर सैकड़ों जीवों को मार देता है और वहाँ कोई उसका सामना नहीं कर सकता है ।

इसी प्रकार श‍ृगाल का भी बीभत्स वर्णन विद्यापति के काव्यों में पाया जाता है:-

'पले रुण्ड-मुण्डो, खले बाहु-दण्डो ।
सियालू कलक्केइ कङ्कालखण्डो' ।।
'सिआ मार फेक्कार तारं करन्तो' ।
'रकतक राङ्गल माँथ उफरि फेरवी फोड़ि खा' ।

-कीर्त्तिलता-4, 55/57/59 ।

भयानक युद्ध के अंत में मनुष्य के धर एवं मुंड पड़े हुए हैं, बाहुदंड गिरे हुए हैं और सियार नरकंकाल के खंड को कड़कड़ा रहा है । उसका यह स्वभाव होता है कि पेट भर जाने पर मांसल देह को छोड़कर हाड़ को चबाते रहना । वहाँ श‍ृगाली (सियारनी) बहुत जोर से फेत्कार (हुआ-हुआ) शब्द को तेज कर रही है । रक्त-रञ्जित माँथे को फोड़ कर सिआरनी भर पेट से ज्यादा खा चुकी है ।

गीध का बीभत्स वर्णन **विद्यापति** ने कीर्त्तिलता और कीर्त्तिपताका दोनों में लगभग समान शब्दावली द्वारा प्रस्तुत किया है:-

'अरुज्झाल अन्तावली जाल बद्धो ।
वसा-वेग बुड्डन्त उड्डन्त गिद्धो' ।

-कीर्त्तिलता-4-46 ।

'फप्फरन्त फेरवी पमत्त मांस खाइ खाइ ।
अन्त-जाल-माल-बद्ध गिद्ध उद्ध उड्डि जाइ" ।।
-कीर्त्तिपताका-3-1 ।

यहाँ संग्राम समाप्त होने पर मृत शरीरों का बीभत्स वर्णन है । मृतमनुष्य के आँतों के जाल में उलझ कर बंधे हुए एवं चर्बी के प्रवाह के वेग में डूबते हुए गिद्ध किसी-किसी तरह उड़ जाते हैं । वहाँ मांस खा-खाकर सियारनी प्रमत्त होकर फेत्कार (हुआँ-हुआँ) कर रही है और मनुष्य की अँतड़ी के जाल की माला में बंधा हुआ गिद्ध (गीध पक्षी) ऊपर उड़ जाता है ।

शुक (तोता) का वर्णन रूपक बांधकर **कवि भीषम** (1475 ई.) ने इस प्रकार किया है:-

"पण्डिअ-मंडलि-बद्धगुणे, भीषम-कीर-मुहेन ।
वाणी महुर महग्ध रस, पिअउ सुअन सवणेन' ।।
-कीर्त्तिपताका के आदि में उद्धृत ।

यहाँ गुण शब्द में श्लेष है । तदनुसार कवि भीषम के पक्ष में इसका अर्थ उत्कर्षाधायक और कीर (तोता) के पक्ष में सूत्र (धागा) है । पंडित-मंडली के द्वारा बांधे गये गुणवाले कवि भीषम रूप शुक के मुख से वाणी के मधुर एवं बहुमूल्य रस को सज्जन अपने कानों से पियें । योग्य व्यक्ति शुक को गुणभरी वाणी सिखाता है और वह उस वाणी को मधुर स्वर में लोगों को सुनाता रहता है, उसका यही स्वभाव है ।

कवि भीषम ने जोंक नामक कीड़े का वर्णन बड़े स्वाभाविक रूप से किया है:-

'दुज्जन पअ पणमिअइ जइ, तउ परगुण दुस्सन्त ।
जइ जोका सिर सन्नविअ, तउ सोणिअ सोसन्त' ।।

–कीर्तिपताका के आदि भाग में उद्धृत ।

यहाँ दुर्जन के स्वभाव के दृष्टांत के रूप में जोंक का स्वभाव वर्णित हुआ है । दुर्जन यदि पैर पर भी प्रणत होता है तो भी दूसरे के गुण को बुरा ही कहता है । देखिए, जोंक तो सिर ही झुकाता रहता है, फिर भी दूसरे का शोणित ही चूसता है ।

(4) अपभ्रंश-काव्यों में प्रकृति-सौंदर्यः-

कवि स्वभावतः प्रकृति के उपासक होते हैं । प्रकृति के हरेक परिवर्त्तन पर उनकी नवीन दृष्टि मँडराती रहती है । वृक्ष, पर्वत, नदी, सूर्य, चन्द्र आदि की स्थिति एवं गतिविधि को वे असामान्य रूप से देखकर उन्हें मानवीकृत भी कर देते हैं । इस कवि परंपरा के पालन में अपभ्रंश भाषा के कविगण भी सयत्न दीख पड़ते हैं ।

महाकवि **कालिदास** ने नाचते हुए वृक्ष का वर्णन किया है–

'गंधुम्माइअ महुअर गीएहिं ।
वज्जंतेहिं परहुअ तूरेहिं ।।
पसरिअ पवणुव्वेल्लिअ, पल्लव-णिअरु ।
सुललिअ विविह पआरेहिं, णच्चइ कप्पअरु' ।।

–विक्रमोर्वशीयम्, अंक-4, गीतिः 9 ।

अर्थात् सुगंधों से उन्मत्त भौरे गीत गा रहे हैं, कोयल अपने मीठे स्वर से बाजे बजा रहे हैं, फैले हुए पल्लवों के समूह पवन

से उद्वेलित (झुलाये) हो रहे हैं । इस तरह सुललित विविध प्रकारों से कल्पवृक्ष नाच रहा है । पल्लवित, पुष्पित, सुरभित पेड़ पर भौंरे गुँजार कर रहे हैं, कोयलें कूक रही हैं और शीतल वायु झँकझोर रहा है- क्या ही मनोरम प्राकृतिक दृश्य है ?

अब महाकवि **स्वयंभू** का समुद्र वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है, जहाँ वे प्राचीन-कवि-संप्रदाय के अनुसार श्लेष का कमाल दिखा रहे हैं-

'दीसइ रयणायरु रयण-बाहु, विञ्झु व सवारि छन्दु व सगाहु ।
अत्थाहु सुहि व, हत्थि व करालु, भंडारि उव्व बहु रयण-पालु ।।
सूहब-पुरिसोब्ब सलोण-सील, सुग्गीवु व पयडिय-इन्द्रणीलु ।
तबसि व परिपालय-समय-सारु, दुज्जन-पुरिसोव्व सहाव-खारु ।।
णिद्धण-आलाबु व अप्पमाणु, जोइसुव मीण-कक्कडव-थाणु ।
महकव्व-णिबंधु व सद्द-गहिरु, चामीयर-चसय व पीय-मरु' ।।
-पउमचरिउ, जुज्झकंड-69-3 ।

तात्पर्य यह है कि समुद्र के स्वरूप एवं गुणवर्णन के साथ-साथ अप्रस्तुत विन्ध्य, छंद आदि के गुण भी श्लेष द्वारा प्रकटित होकर सहृदयों को आह्लादित कर रहे हैं । रत्नबहुल रत्नाकर (समुद्र) दीख रहा है जो विन्ध्य के समान सवारि (जल सहित, विन्ध्यपक्ष में वारि=हाथी पकड़ने के लिए किया गया गड्ढ़ा, उससे युक्त), छंद के समान सगाह (ग्राहयुक्त या गाथा छंद युक्त), सुधी (विद्वान) के समान अथाह, हाथी के समान कराल (भयानक या कर-सूँड़ से युक्त), भंडारपाल के समान रत्न रखनेवाला, सौभाग्यवान् पुरुष के समान सलोना स्वभाववाला (या सलोन-लवणमय), सुग्रीव (कपिराज) के समान इन्द्रनील

पर्वत पर प्रकटित होनेवाले (या इन्द्रनील मणि को प्रकटित करनेवाले) तपस्वी के समान सकल समय को नियमबद्ध परिपालित करने वाले (या अनंतकाल से स्थित), दुर्जन-पुरुष के समान स्वभाव से ही खार (नमकीन या कटु), निर्धन के आलाप के समान अप्रमाण (बहुत शब्द करने भी उसका कोई अर्थ नहीं), ज्योतिषी के समान मीन (राशि या मछली) और कर्कट (राशि या केँकड़ा) का स्थान, महाकाव्य-निबन्धन के समान शब्दगंभीर और सोने के चषक (प्याला) के समान मदिरा-पान (या मदिरा रखने) से युक्त है' ।

अब स्वयंभू के द्वारा किया हुआ सूर्योदय का आलंकारिक वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है-

'विमलें विहाणए, कियए पयाणए, उदयगिरि सिहरे रवि दीसई ।
मइ मेल्लेप्पिणु, निसियरु लेप्पिणु, कहिं गय णिसि णाइँ गवेसई' ।
-पउमचरिउ-14-2 ।

विमल विहान में प्रस्थान कर उदयाचल के शिखर पर सूर्य दिखाई दे रहा है । शायद उसका सुबह-सुबह प्रस्थान इसलिए हुआ है कि मुझ से (सूर्य से) मिलने के लिए चले निशाकर (चन्द्रमा) को लेकर निशा (रात) रूपी नायिका कहाँ चली गयी, उसे वह (सूर्य) ढूँढ़ रहा है ।

इसी प्रकार **पुष्पदन्त कवि** का सन्ध्यावर्णन श्रृंगारिकता से विलसित देखा जा सकता है, जहाँ आकाश की लालिमा, कार्यकलाप का विश्राम, अंधकार का साम्राज्य, कमल का सँकुचना, कुमद का विकास और चन्द्रकिरण का प्रकाश दृष्टान्त दिखा कर वर्णित हुआ है, जिससे प्रकृति की छवि सामने आयी हुई मालूम पड़ती है-

'जिह संझा राएँ रंजियउ, तिह वेसा राएँ रंजियउ ।
जिह भुवणल्लउ संताबियउ, तिह चक्कउलु वि संताबियउ ।।
जिह दिसि दिसि तिमिरइँ मिलियाइं, तिह दिसिदिसि जारइँ मिलियाइं ।
जिह रयणिहि कमलइँ सउलियइं, तिह विरहिणि-वयणइँ मौलियइं ।
जिह घरहँ कबाडइँ दिण्णाइं, तिह वल्लह-खेबइँ दिण्णाइं ।।
जिह चंदें णिय-कर पसरु किउ, तिह पिअ केसहिं कर पसरु किउ ।
जिह कुवलय कुसुमइँ वियसियइं, तिह कीलिय-मिहुणइँ वियसियइं ।।
-महापुराण- 13-8, 2-7)

जिस तरह सन्ध्याकल रागरंजित हो गयी वैसे ही वेश्याजन भी राग=महावर से रञ्जित हो गयी, जैसे तीनों भुवन शांत हो गये वैसे ही चक्रवाक संतापित हुए, दिशाओं में अंधकार व्याप्त हो गये-कपट प्रेमी मिल गये, रात को आते देख कमल मौल गये-विरहिणी के वदन मलिन हुए, घर की किबाड़ें बंद हुईं-प्रिय का आलिंगन होने लगा, चन्द्रमा अपने किरणों को फैलाने लगे-प्रिय अपनी प्रिया के केशों को कर (हाथ) से छूने लगे, कुमुद फूल विकसित हुए वैसे ही क्रीड़ा करते हुए मिथुन (युगल जोड़ी) प्रसन्न होने लगे ।

अब **पुष्पदन्त** के द्वारा ही किया गया गङ्गावर्णन प्रस्तुत है-

'मीण-णयणी विब्भम-णाहि-गहिर,
णव-कुसुम-विमीसिअ- भमर-चिहुर ।
मज्जन्त-कुम्भि-कुम्भत्थणाल,
सेवाल, णील णेत्तंचलाल ।।
पड़विड़-विगलिअ-महु-घुसिण पिंग,
चल-जल भंगावलि वलि-तरंग ।

सिअ-घोलमाण डिण्डीर-चीर, पवणुद्धय-तार-तुसार हीर ।।
वित्त्थिण्ण मणोहर पुलिण रमण, णइ णाइँ विलासिणि मन्द-गमण' ।।
-महापुराण- 12-8, 2-6 ।

उपर्युक्त पद्य में गङ्गा नदी को एक विलासिनी के रूप में वर्णित करते हुए नदी का वास्तविक रूपांकन किया गया है । तदनुसार श्लेष के द्वारा यहाँ प्रत्येक विशेषण का दो अर्थ होता है- एक नदी पक्ष और दूसरा विलासनी पक्ष में । गङ्गा नदी की आँखें उसकी मछलियाँ ही हैं, जबकि विलासिनी की आँखें मछली की आँखों के समान हैं । उसकी विभ्रम (भँवर) रूपी नाभि गहरी है, नवीन फूलों पर बैठे भौरें इसके केश हैं (नायिका के भी काले केश में फूल लगे रहते हैं), नहाते हाथियों के मस्तक स्तन हैं, नील शैवाल चंचल नेत्र हैं, तट पर स्थित पेड़ से गिरे मधु इसके देह में पीत कुंकुम लगे हैं, चलते हुए जल की भङ्गिमा (तरङ्ग) इसकी त्रिवली तरङ्गित हो रही है, उजले प्रवाहित फेन इसके वस्त्र हैं, पवन के द्वारा उछाले गये जल बर्फ के समान उजले हीरे के हार हैं और विस्तीर्ण मनोहर तट इसके नितम्ब हैं । इस तरह यह गङ्गा नदी न होकर मंदगामिनी विलासनी है । यहाँ प्रकृति को मानवीकृत करने से वर्णन का चमत्कार बढ़ गया है ।

वनवर्णन करते हुए **धनपाल** ने उसकी गहनता का मनोरम वर्णन प्रस्तुत किया है-

'दिसामंडलं जत्थ णाउं अलक्खं ।
पहायं पि जाणिज्जए जम्मि दुक्खं' ।।
-भविस्सयत्त-कहा-4-3,2 ।

जहाँ (वन में) दिशाएँ नहीं दीख पड़ती थीं और जिस में

(सघनतातिशय के कारण) प्रभात को भी बड़ी कठिनाई से जाना जाता था ।

अपभ्रंश काव्यों में ऋतु वर्णन अनेक स्थल पर वर्णित हुए हैं । यहाँ संक्षिप्त रूप में केवल दो ऋतुओं के वर्णन प्रस्तुत किये जाते हैं । कवि **बब्बर** ने वसन्त को उन्मादक ऋतु के रूप में वर्णित किया है जो विरहियों के लिए असह्य होता है–

'भमइ महुअर, फुल्ल अरविन्द ।
णव–केसु काणण जुलिअ, सव्वदेस पिकराव बुल्लिअ ।
सिअल पवण लहु वहइ, मलअ कुहर णववल्लि पेल्लिअ ।।
चित्त मणोहव–सर हणई, दूर दिगंतर कन्त ।
किमि परि अप्पउ बारिहउ, इम परिपलिअ दुरन्त' ।।

–प्राकृतपैङ्गलम्–1–135 ।

मधुकर घूम रहे हैं, कमल खिले हुए हैं, नवीन किंशुक (पलाश के फूल) वन में जल रहे (ज्वाला के समान लाल लाल खिल रहे) हैं, सभी जगह कोयल शब्द कर रहे हैं, शीतल पवन मंद–मंद बह रहे हैं और मलय पर्वत की गुफा से निकलकर वह वायु नवलताओं को प्रेरित कर रहा है । कामदेव का बाण चित्त को मार रहा है और कान्त दूर दिशा के छोड़ पर है । मैं अपने को किस तरह अधीर होने से रोकूँ, यह ऐसा दुरन्त समय आ पहुँचा है' ।

'फुलिअ महु, भमर बहु, रअणि–पहु
किरण लहु, अवअरु वसंत ।
मलअ–गिरि कुहर धरि पवण बह
सहब कह, सुण सहि ! णिअल णहि कंत ।

–प्राकृतपैङ्गल–1–163 ।

यहाँ कवि **बब्बर** कहते हैं कि महुए का फूल खिल गया है, बहुत से भौँरे गुनगुना रहे हैं, रजनीपति (चन्द्र) के मंद किरण छिटक रहे हैं, इस प्रकार वसंत ऋतु अवतार ले चुका है । मलय-पर्वत की गुफा तक पवन बह रहा है । हे सखि ! सुनो, कैसे सहा जायगा, क्योंकि कान्त तो निकट में नहीं है । प्रकृति की यह सजावट वसन्त आते ही हो जाती है जो कि नितांत मादक, प्रसादक एवं अवसादक होतीं हैं ।

अब प्रस्तुत है वर्षावर्णन जो **जिनपद्म सूरि** के ललित-कमनीय काव्य का अंश है-

"झिरमिरि झिरमिरि झिरमिरि ए, मेहा बरिसंति ।
खलहल खलहल खलहल ए, बाहला बहँति ।।
झबझब झबझव झबझब ए, बीजुलिया झंपइ ।
थरहर थरहर थरहर ए, विरहिणि मणु कंपइ ।।
महुर गंभीर सरेण मेह, जिम-जिम गाजंते ।
पंचबाण निय कुसुम बाण, तिम-तिम साजंते ।।
जिम-जिम केतकि महमहंत, परिमल विहसाबइ ।
तिम-तिम कामिय चरण लग्गि, निय रमणि मनाबइ" ।।

-स्थूलिभद्र फागु-6, 7 ।

यहाँ 'झिरमिर' आदि अनुकरणात्मक शब्दों की आवृत्ति के द्वारा दृश्य को अनुभूत कराने का सही प्रयास किया गया है । झहर झहर कर ये मेघ बरसते हैं, खलखल आवाज करते हुए वायु बहते हैं, झबझब करके बिजली तड़कती है, जिससे विरहिणी का मन थरथर काँपता है । जैसे-जैसे मधुर गंभीर स्वर में मेघ गरजते हैं, वैसे-वैसे कामदेव अपने फूल के बाणों को सजाता है ।

जैसे-जैसे महमह सुगंधित करती केतकी (फूल) अपने सुगंध फैलाती है, वैसे-वैसे कामी पुरुष अपनी रमणी के चरण में लगकर उसे मनाते हैं ।

अब कवि कोकिल **विद्यापति** का प्रभातवर्णन प्रस्तुत किया जाता है जो संक्षिप्त रहने पर भी प्रकृति की दिव्य झाँकी प्रस्तुत कर देता है-

'रअणि विरमिअ हुअउ पच्चूस ।
तरणि तिमिर संहरिअ, हसिअ अरविन्द कानन ।
निन्दे नअन परिहरिअ, उट्ठि राए पक्खारु आनन' ॥

-कीर्त्तिलता-3-2 ।

रात बीती और प्रत्यूष (सबेरा) हुआ । सूर्य ने अंधेरे का हरण किया, कमल का फूल वन में हँसने (पूर्णतः लिखने) लगा, नीन्द ने आँखों को छोड़ दी और राजा कीर्त्ति सिंह उठकर मुँह धोने लगे' ।

इस प्रकार अपभ्रंश काव्यों में चित्रित सौंदर्य का निरूपण अति संक्षिप्ति रूप से किया गया, परंतु यह निरूपण इस साहित्य के आरंभ से अंत तक के प्रमुख कृतियों का स्पर्श अवश्य करता है ।



सहायक ग्रंथ–

1. **पउमचरिउ**–स्वयंभू । सिंधी जैनशास्त्र शिक्षापीठ, भारतीय विद्या भवन, बंबई ।
2. **महापुराण**–पुष्पदन्त । मानकचन्द चिदम्बर ग्रंथ-माला, बंबई–1937 ई. ।
3. **सन्देस–रासक**–अद्दहमाण । सिंधी जैन शिक्षापीठ, बंबई–2001 वि.सं. ।
4. **सावयधम्म दोहा**–देवसेन । कारंजा सीरीज, कारंजा–1929 ई. ।
5. **दोहाकोश**–सरह । बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना–1957 ई. ।
6. **भविस्सयत्तकहा**–धनपाल । गायकवाड़ सीरीज, बड़ौदा–1923 ई.।
7. **कालिदास ग्रन्थावली**–कालिदास । हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी–1976 ई. ।
8. **संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो**–चन्दवरदायी । साहित्य भवन, इलाहाबाद–1968 ई. ।
9. **प्राकृत पैङ्गलम्**–सं–डॉ० भोलाशंकर व्यास । प्राकृत ग्रंथ परिषद् वाराणसी–1959 ई. ।
10. **वर्णरत्नाकर**–ज्योतिरीश्वर । मैथिली अकादमी, पटना– 1980 ई.।
11. **बौद्धगान मे तान्त्रिक सिद्धान्त**– डॉ. जयधारी सिंह । मधुबनी, 1969 ई. ।
12. **प्राकृत व्याकरणम्**–हेमचन्द्र । भाण्डारकर संशोधन संस्थान, पूना– 1958 ई. ।
13. **कीर्त्तिलता**–विद्यापति । डॉ. शशिनाथ झा, दीप, मधुबनी (बिहार) 1996 ई. ।

14. **कीर्त्तिपताका**–विद्यापति–सं. डॉ. शशिनाथ झा । नाग प्रकाशक, दिल्ली–7, 1994 ई. ।

15. **हिन्दी की आदि और मध्यकालीन फागु-कृतियाँ**– डॉ. गोविन्द रजनीश । मंगल प्रकाशन, जयपुर– 1976 ई. ।

16. **अपभ्रंश काव्य परम्परा और विद्यापति**– अम्बादत्त पन्त । नागरी प्रचारिणी सभा, काशी–2026 वि. सं. ।

17. **अपभ्रंश और अवहट्‌ट**– डॉ. शम्भूनाथ पांडेय । चौखम्बा ओरियंलिया, वाराणसी– 1979 ई. ।

